राजेन्द्र यादव
मन्नू भंडारी

अकेली

राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी
दोनों आधुनिक पीढ़ी के सशक्त कथाकार हैं
जहां ये तरुण लेखक एक-दूसरे के व्यक्तित्व को
पूर्ण कर रहे हैं वहां इनकी कला भी
निरन्तर विकसित हो रही है
बात को गहराई के साथ और बिना झिझक के
पेश करना इन दोनों कलाकारों की विशेषता है
इनकी रचनाओं का
पाठकों में बहुत स्वागत हुआ है
'अकेली' में कलाकार-दम्पति की
पांच नई कहानियां संकलित हैं; जिनमें
नारी जीवन के अकेलेपन का
बहुत बारीकी से चित्रण हुआ है—
दो अलग-अलग दृष्टिकोणों से······

राजेन्द्र यादव
मन्नू भंडारी

राजेन्द्र यादव

•

जहां लक्ष्मी कैद है
खुले पंख : टूटे डैने

कहानी-संग्रह

देवताओं की मूर्तियां
खेल खिलौने
जहां लक्ष्मी कैद है
अभिमन्यु की आत्महत्या
छोटे-छोटे ताजमहल
किनारे से किनारे तक

जहां लक्ष्मी कैद है

ज़रा ठहरिए, यह कहानी विष्णु की पत्नी लक्ष्मी के बारे में नहीं, लक्ष्मी नाम की एक ऐसी लड़की के बारे में है जो अपनी कैद से छूटना चाहती है। इन दो नामों में ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है जैसाकि कुछ क्षण के लिए गोविन्द को हो गया था।

एकदम घबराकर जब गोविन्द की आंखें खुलीं तो वह पसीने से तर था और उसका दिल इतने ज़ोर से धड़क रहा था कि उसे लगा, कहीं अचानक उसका धड़कना बन्द न हो जाए। अंधेरे में उसने पांच-छः बार पलकें झपकीं। पहली बार तो उसकी समझ में ही न आया कि वह कहां है, कैसा है; एकदम दिशा और स्थान का ज्ञान वह भूल गया। जब पास के हॉल की घड़ी ने एक का घंटा बजाया, तो उसकी समझ में ही न आया कि वह घड़ी कहां है, वह स्वयं कहां है और घंटा कहां बज रहा है। फिर धीरे-धीरे उसे ध्यान आया, उसने ज़ोर से अपने गले का पसीना पोंछा और उसे लगा, उसके दिमाग में फिर वही खट्-खट् गूंज उठी है, जो अभी गूंज रही थी···

पता नहीं, सपने में या सचमुच ही, अचानक गोविन्द को ऐसा लगा था जैसे किसीने किवाड़ पर तीन-चार बार खट्-खट् की हो, और बड़े गिड़गिड़ाकर कहा हो—'मुझे निकालो, मुझे निकालो !' और वह आवाज़ कुछ ऐसे रहस्यमय ढंग से आकर उसकी चेतना को कोंचने लगी कि वह बौखलाकर जाग उठा। सचमुच ही यह किसीकी आवाज़ थी या महज़ उसका भ्रम ?

फिर उसे धीरे-धीरे याद आया कि यह भ्रम ही था और वह लक्ष्मी के बारे में सोचता हुआ ऐसा अभिभूत सोया था कि वह स्वप्न में भी छाई रही। लेकिन, वास्तव में यह आवाज़ कैसी विचित्र थी, कैसी साफ थी! उसने कई बार सुना था कि अमुक स्त्री या पुरुष से स्वप्न में आकर कोई कहता था—'मुझे निकालो, मुझे निकालो।' फिर वह धीरे-धीरे स्थान की बात भी बताने लगता था, और वहां खुदवाने पर कड़ाहे या हाँडी में भरे सोने-चांदी के सिक्के या माया उसे मिली और वह देखते-देखते मालामाल हो गया। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि किसी अनधिकारी आदमी ने उस द्रव्य को निकलवाना चाहा तो उसमें कौड़ियां और कोयले निकले, या फिर उसके कोढ़ फूट आया, या घर में कोई मृत्यु हो गई। कहीं इसी तरह, धरती के नीचे से उसे कोई लक्ष्मी तो नहीं पुकार रही है? और वह बड़ी देर तक सोचता रहा, उसके दिमाग में फिर लक्ष्मी का किस्सा साकार होने लगा। वह मोहाच्छन्न-सा पड़ा रहा···

दूर कहीं दूसरे घड़ियाल ने फिर वही एक घटा बजाया।

गोविन्द से अब नहीं रहा गया। रज़ाई को चारों तरफ से बन्द रखे हुए ही बड़े सभालकर उसने कुहनी तक हाथ निकाला, लेटे ही लेटे अलमारी के खाने से किताब-कापियों की बगल से उसने अधजली मोमबत्ती निकाली, वहीं वहीं से खोजकर दियासलाई निकाली और आधा उठकर, ताकि जाड़े में दूसरा हाथ पूरा न निकालना पड़े, उसने दो-तीन बार घिसकर दियासलाई जलाई, मोमबत्ती रोशन की और पिघले मोम की बूंद टपकाकर उसे दवात के ढक्कन के ऊपर जमा दिया। धीरे-धीरे हिलती रोशनी में उसने देख लिया कि पूरे किवाड़ बन्द हैं, और दरवाजे के सामनेवाली दीवार में बने, जाली लगे रोशनदान के ऊपर, दूसरी मंजिल में हल्की-हल्की जो रोशनी आती है, वह भी बुझ चुकी है। सब कुछ कितना शान्त हो चुका है! बिजली

का स्विच यद्यपि उसके तख्त के ऊपर ही लगा था, लेकिन एक तो जाड़े में रज़ाई-समेत या रजाई छोड़कर खड़े होने का आलस्य, दूसरे लाला रूपाराम का डर ! सुबह ही कहेगा—'गोविन्द बाबू, बड़ी देर तक पढ़ाई हो रही है आजकल !' जिसका सीधा अर्थ होगा कि 'बड़ी बिजली खर्च करते हो।'

फिर उसने चुपके से, जैसे कोई उसे देख रहा हो, तकिये के नीचे से रजाई के भीतर ही भीतर हाथ बढ़ाकर वह पत्रिका निकाल ली और गरदन के पास से हाथ निकालकर उसके सैंतालीसवें पन्ने को बीसवीं बार खोलकर बड़ी देर तक घूरता रहा। एक बजे की पठानकोट एक्सप्रेस जब दहाड़ती हुई गुज़र गई तो सहसा उसे होश आया। ४७ और ४८—जो पन्ने उसके सामने खुले थे, उनमें जगह-जगह नीली स्याही से कुछ पंक्तियों के नीचे लाइनें खींची गई थीं—यही नहीं, उस पन्ने का कोना मोड़कर उन्हीं लाइनों की तरफ विशेष रूप से ध्यान खींचा गया था। अब तक गोविन्द उन या उनके आसपास की लाइनों को बीस बार से अधिक घूर चुका था। उसने शंकित निगाहों से इधर-उधर देखा और फिर एक बार उन पंक्तियों को पढ़ा।

जितनी बार वह उन्हें पढ़ता, उसका दिल एक अनजान आनन्द के बोझ से धड़ककर डूबने लगता और दिमाग उसी तरह भन्ना उठता जैसा उस समय भन्नाया था, जब यह पत्रिका उसे मिली थी। यद्यपि इस बीच उसकी मानसिक दशा कई विकट स्थितियों से गुज़र चुकी थी, फिर भी वह बड़ी देर तक काली स्याही से छपे कहानी के अक्षरों को स्थिर निगाहों से घूरता रहा। धीरे-धीरे उसे ऐसा लगा, यह अक्षरों की पंक्ति एक ऐसी खिड़की की जाली है, जिसके पीछे बिखरे बालोंवाली एक निरीह लड़की का चेहरा झांक रहा है। और फिर उसके दिमाग में बचपन में सुनी कहानी साकार होने लगी—शिकार खेलने में साथियों का साथ छूट जाने पर भटकता हुआ एक राजकुमार अपने थके-मांदे

घोड़े पर बियाबान वीराने में, समुद्र के किनारे बने एक विशाल सुनसान किले के नीचे जा पहुंचा। वहां ऊपर खिड़की में उसे एक अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी बैठी दिखाई दी, जिसे एक राक्षस ने लाकर वहां कैद कर दिया था···छोटे से छोटे विवरण के साथ खिडकी में बैठी राजकुमारी की तस्वीर गोविन्द की आंखों के आगे स्पष्ट और मूर्त होती गई। और उसे लगा, जैसे वही राजकुमारी उन रेखांकित, छपी लाइनों के पीछे से झांक रही है—उसके गालों पर आंसुओं की लकीरें सूख गई हैं, उसके होंठ पपड़ा गए हैं, चेहरा मुरझा गया है और रेशमी बाल मकड़ी के जाले जैसे लगते हैं, जैसे उसके पूरे शरीर से एक आवाज़ निकलती हो—'मुझे छुड़ाओ, मुझे छुड़ाओ!'

गोविन्द के मन में उस अनजान राजकुमारी को छुड़ाने के लिए जैसे रह-रहकर कोई कुरेदने लगा। एक-आध बार तो उसकी बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि अपने भीतर रह-रहकर कुछ करने की उत्तेजना को वह अपने तख्त और कोठरी की दीवार के बीच में बची दो फुट चौड़ी गली में घूम-घूमकर दूर कर दे।

तो क्या सचमुच लक्ष्मी ने यह सब उसीके लिए लिखा है? लेकिन उसने तो लक्ष्मी को देखा तक नहीं। अगर अपनी कल्पना में किसी जवान लड़की का चेहरा लाए भी, तो वह आखिर कैसी हो?···कुछ और भी बातें थीं कि वह लक्ष्मी के रूप में एक सुन्दर लड़की के चेहरे की कल्पना करते डरता था। उसको ठीक शक्ल-सूरत और उम्र भी तो नहीं मालूम उसे···

गोविन्द यह अच्छी तरह जानता था कि यह सब उसीके लिए लिखा गया है। ये लाइनें खींचकर उसीका ध्यान आकृष्ट किया गया है। फिर भी वह इस अप्रत्याशित बात पर विश्वास नहीं कर पाता था। वह अपने को इस लायक भी नहीं समझता था कि कोई लड़की इस तरह उसे संकेत करेगी। यों शहरों के बारे में उसने बहुत कुछ सुन रखा

था, लेकिन यह सोचा भी नहीं था कि गांव से इण्टर पास करके शहर आने के एक हफ्ते में ही उसके सामने एक ऐसी ही 'सौभाग्यपूर्ण' बात आ जाएगी···

वह जब-जब इन पंक्तियों को पढ़ता, तब-तब उसका सिर इस तरह चकराने लगता जैसे किसी दस मंजिले मकान से नीचे झांक रहा हो। जब उसने पहले-पहल ये पंक्तियां देखी थीं तो इस तरह उछल पड़ा था जैसे हाथ में अंगारा आ गया हो।

बात यह हुई कि वह चक्कीवाले हॉल में ईंटों के तख्त जैसे बने चबूतरे पर बड़ी पुरानी काठ की सन्दूकची के ऊपर लम्बा-पतला रजिस्टर खोले दिन-भर का हिसाब मिला रहा था, तभी लाला रूपाराम का सबसे छोटा नौ-दस साल का लड़का रामस्वरूप उसके पास आ खड़ा हुआ। यह लड़का एक फटे-पुराने-से चैस्टर की—जो निश्चित ही किसी बड़े भाई के चैस्टर को कटवाकर बनवाया गया होगा—जेबों में दोनों हाथों को ठूंसे पास खड़ा होकर उसे देखने लगा।

गोविन्द जब पहले ही दिन आया था और हिसाब कर रहा था, तभी यह लड़का भी आ खड़ा हुआ था। उस दिन लाला रूपाराम भी थे, इसलिए सिर्फ यह दिखाने के लिए कि वह उनके सुपुत्र में भी काफी रुचि रखता है, उसने उससे नियमानुसार नाम, उम्र और स्कूल-क्लास इत्यादि पूछे थे: नाम रामस्वरूप, उम्र नौ साल, चुंगी प्राइमरी स्कूल में चौथे क्लास में पढ़ता था। फिर तो सुबह-शाम गोविन्द उसे चैस्टर की छाया से ही जानने लगा। शक्ल देखने की ज़रूरत ही नहीं होती थी। चैस्टर के नीचे नेकर पहने होने के कारण उसकी पतली टांगें खुली रहतीं और वह पांवों में बड़े पुराने किरमिच के जूते पहने रहता, जिनकी फटी निकली जीभों को देखकर उसे हमेशा दुमकटे कुत्ते की पूंछ का ध्यान हो आता था।

थोड़ी देर उसका लिखना ताकते रहकर लड़के ने चैस्टर के बटनों

थे किताब और छातों के बीच में रखी पत्रिका निकालकर उसके सामने रख दी और बोला, "मुंशीजी, लक्ष्मी जीजी ने कहा है, हमें कुछ और पढ़ने को दीजिए।"

"अच्छा, कल देंगे।" मन ही मन झल्लाकर उसने कहा।

यहां आकर उसे जो 'मुंशीजी' का नया खिताब मिला, उसे सुनकर उसकी आत्मा खाक हो जाती। 'मुंशी' नाम के साथ जो एक कान पर कलम लगाए, गोल-मैली टोपी, पुराना कोट पहने, मुछे-मुछे आदमी की तस्वीर सामने आती है, उसे बीस-बाईस साल का युवक गोविन्द सहन नहीं पाता।

लाला कृपाराम उसीके गांव के हैं, शायद उसके पिता के साथ दो-तीन जमात पढ़े भी थे। शहर आते ही आत्मनिर्भर होकर पढ़ाई चला सकने के लिए किसी ट्यूशन इत्यादि या छोटे पार्ट-टाइम काम के लिए लाला कृपाराम से भी वह मिला, तो उन्होंने अत्यन्त उत्साह से उसके मृत बाप को याद करके कहा, "भैया, तुम तो अपने ही बच्चे हो, जरा हमारी चक्की का हिसाब-किताब घंटे आध घंटे देख लिया करो और मजे में चक्की के पास जो कोठरी है उसमें पड़े रहो। अपने पढ़ो। आटे की यहां तो कमी है ही नहीं।" और अत्यन्त कृतज्ञता से गद्गद जब वह उनकी कोठरी में आ गया तो पहली रात हिसाब लिखने का ढंग समझाते हुए लाला कृपाराम मोतियाबिन्दवाले चश्मे के मोटे-मोटे कांचों के पीछे से मोरपंखी के चंदोवे-सी दीखती आंखों और मोटे होंठों से मुस्कराते, उसका सम्मान बढ़ाने को 'मुंशीजी' कह बैठे तो वह चौंक गया। लेकिन उसने निश्चय कर लिया कि यहां जम जाने के बाद विनम्रता से इस शब्द का विरोध करेगा। रामस्वरूप से 'मुंशीजी' नाम सुनकर उसकी भौंहें तन गईं, इसीलिए उसने उपेक्षा से वह उत्तर दिया था।

"कल जरूर दीजिएगा।" रामस्वरूप ने फिर अनुरोध किया।

'हां भाई, जरूर देंगे।' उसने दांत पीसकर कहना चाहा, लेकिन

यह सोचा भी नहीं था कि गांव से इण्टर पास करके शहर
क हफ्ते में ही उसके सामने एक ऐसी ही 'सौभाग्यपूर्ण' वात
ी···

जब-जब इन पंक्तियों को पढ़ता, तब-तब उसका सिर इस तरह
लगता जैसे किसी दस मंज़िले मकान से नीचे झांक रहा हो।
सने पहले-पहल ये पंक्तियां देखी थीं तो इस तरह उछल पड़ा था
ाथ में अंगारा आ गया हो।

वात यह हुई कि वह चक्कीवाले हॉल में ईंटों के तख्त जैसे बने
तरे पर बड़ी पुरानी काठ की सन्दूकची के ऊपर लम्बा-पतला रजिस्टर
ले दिन-भर का हिसाब मिला रहा था, तभी लाला रूपाराम का
बसे छोटा नौ-दस साल का लड़का रामस्वरूप उसके पास आ खड़ा
हुआ। यह लड़का एक फटे-पुराने-से चैस्टर की—जो निश्चित ही किसी
वड़े भाई के चैस्टर को कटवाकर वनवाया गया होगा—जेवों में दोनों
थों को ठूंसे पास खड़ा होकर उसे देखने लगा।

गोविन्द जब पहले ही दिन आया था और हिसाब कर रहा था,
तभी यह लड़का भी आ खड़ा हुआ था। उस दिन लाला रूपाराम भी थे,
इसलिए सिर्फ यह दिखाने के लिए कि वह उनके सुपुत्र में भी काफी रुचि
रखता है, उसने उससे नियमानुसार नाम, उम्र और स्कूल-क्लास इत्यादि
पूछे थे : नाम रामस्वरूप, उम्र नौ साल, चुंगी प्राइमरी स्कूल में चौ
क्लास में पढ़ता था। फिर तो सुवह-शाम गोविन्द उसे चैस्टर की छ
से ही जानने लगा। शक्ल देखने की जरूरत ही नहीं होती थी। चै
के नीचे नेकर पहने होने के कारण उसकी पतली टांगें खुली रहतीं
वह पांवों में वड़े पुराने किरमिच के जूते पहने रहता, जिनकी
निकली जीभों को देखकर उसे हमेशा दुमकटे कुत्ते की पूंछ का
हो आता था।

थोड़ी देर उसका लिखना ताकते रहकर लड़के ने चैस्टर

और संकोच रहता था, इसलिए सुबह चौक में जाते हुए अत्यन्त सीधे लड़कों की तरह निगाहें नीची किए हुए भी वह ऊपर की स्थिति को भाँपने का प्रयत्न करता था। ऊपर सिर उठाकर पल-भर देख पाने की उसमें हिम्मत न थी। अपनी कोठरी का एकमात्र दरवाज़ा बन्द करके, तख्त पर खड़े होकर मकड़ी के जाले और धूल से भरे जालीदार रोशनदान से झाँककर उसने वहाँ की स्थिति को भी जानने की कोशिश की थी; लेकिन यह कमबख्त जाली कुछ इस ढंग से बनी थी कि उसके 'फोकस' में पूरा सामनेवाला छज्जा और एकाध फुट मोहरे का जाल-भर आता था। वहाँ कई बार उसे लगा जैसे दो छोटे-छोटे तलुए गुजरे···बहुत कोशिश करने पर लगने होंगे—हाँ, हैं तो किसी लड़की के ही पैर, क्योंकि साथ में धोती का किनारा भी झलका था।···उसने एक गहरी साँस ली और तख्त से उतरते हुए बड़े ऐक्टराना अन्दाज़ में छाती पर हाथ मारा और बुदबुदाया—"अरे लक्ष्मी ज़ालिम, एक झलक तो दिखा देती···"

"मुंशीजी, तुम तो देख रहे हो, लिखते क्यों नहीं ?" रामस्वरूप ने जब देखा कि गोविन्द धीरे-धीरे होल्डर का पिछला हिस्सा दाँतों में ठोकता हुआ हिसाब की कापी में अपलक कुछ घूर रहा है, तो पता नहीं कैसे यह बात उसकी समझ में आ गई कि वह जो कुछ सोच रहा है, उसका सम्बन्ध सामने रखे हिसाब से नहीं है···

उसने चौंककर लड़के की तरफ देखा और चोरी पकड़ी जाने पर झेंपकर मुसकराया। तभी अचानक एक बात उसके दिमाग़ में कौंधी—यह लक्ष्मी रामस्वरूप की बहन ही तो है। ज़रूर उसका चेहरा इससे काफी मिलता-जुलता होगा। इस बार उसने ध्यान से रामस्वरूप का चेहरा देखा कि यह सुन्दर है या नहीं। फिर अपनी बेवकूफ़ी पर मुस्करा-कर एक अंगड़ाई ली। चारों तरफ़ ढीले हुए बन्धन को फिर से कसा और कस लिया और अत्यन्त शान्ति प्यार से बोला, "अच्छा मुन्ना, अब

सुबह दे देंगे।" उसकी इच्छा हुई कि वह उससे लक्ष्मी के बारे में कुछ बात करे, लेकिन सामने ही चौकीदार और मिस्त्री सलीम काम कर रहे थे···

असल में आज वह थक भी गया था। अचानक व्यस्त होकर बोला और जल्दी-जल्दी हिसाब करने लगा। दुनिया-भर की सिफारिशों के बाद उसका नाम कॉलेज के नोटिस-बोर्ड पर आ गया कि वह ले लिए गए लड़कों में से है। आते समय कुछ किताबें और कापियां भी वह खरीद लाया था, सो आज वह चाहता था कि जल्दी से जल्दी अपनी कोठरी में लेटे और कुछ आगे-पीछे की बातें—दुनिया-भर की बातें—सोचता हुआ सो जाए। सोचे, लक्ष्मी कौन है, कैसी है! वह उसके बारे में किससे पूछे?···कोई उसका हम-उम्र और विश्वास का आदमी भी तो नहीं है। किससे पूछे और रूपाराम को पता चल जाए तो? लेकिन अभी तीसरा ही तो दिन है। मन ही मन अपने पास रखी पत्रिकाओं और कहानी की पुस्तकों की गिनती करते हुए वह सोचने लगा कि इस बार उसे कौन-सी देनी है। आगे जाकर जब काफी दिन हो जाएंगे तो वह चुपचाप उसमें एक ऐसा छोटा-सा पत्र रख देगा जो किसी दोस्त के नाम लिखा गया होगा या उसकी भाषा ऐसी होगी कि पकड़ में न आ सके। 'भूल से चला गया', पकड़े जाने पर वह आसानी से कह सकेगा, 'उसे तो ध्यान भी नहीं था कि वह परचा इसमें रखा है!' बीस जवाब हैं। अपनी चालाक बेवकूफी की कल्पना पर वह मुस्कराने लगा।

जिसके विषय में वह इतना सब सोचता है, यह उसी लक्ष्मी के पास से आई हुई पत्रिका है। उसने इसे अपने कोमल हाथों से छुआ होगा, तकिये के नीचे, सिरहाने भी यह रही होगी। लेटकर पढ़ते हुए, हो सकता है, सोचते-सोचते छाती पर भी रखकर सो गई हो···और उसका तन-मन गुदगुदा उठा। क्या लक्ष्मी उसके विषय में बिलकुल ही न सोचती होगी? हिसाब लिखने की व्यस्तता में भी उसने गरदन मोड़कर

दिन में ही ऐसी हिम्मत कर डाले।

सने फिर पत्रिका निकालकर पूरी उलट-पुलट डाली। नहीं, वही हैं, बस। वह उन तीनों लाइनों को फिर एकसाथ पढ़ गया। उसे ऐसा लगा जैसे उसके दिमाग में हवाई जहाज़ भन्ना उठा हो। न्द का दिमाग चकरा रहा था, दिल धड़क रहा था और जो हिसाव लिख रहा था, वह तो जैसे एकदम भूल गया। उसने कलम के ले हिस्से से कान के ऊपर खुजलाया, खूब आंखें गड़ाकर जमा और र्च के खानों को देखने की कोशिश की, लेकिन वस नस-नस में सन्-सन् रती कोई चीज़ दौड़ी जा रही थी। उसे लगा, उसका दिल फट जाएगा और आतिशवाज़ी के अनार की तरह दिमाग फट पड़ेगा। अब वह किससे पूछे···ये सब निशान किसने लगाए हैं? क्या सचमुच लक्ष्मी ने?

इस मधुर सत्य पर विश्वास नहीं होता। मैं चाहे उसे न देख पाया होऊं, उसने तो ज़रूर ही मुझे देख लिया होगा। अरे, ये लड़कियां वड़ी तेज़ होती हैं। गोविन्द की इच्छा हुई, अगर उसे इसी क्षण शीशा मिल जाए तो वह लक्ष्मी की आंखों से अपने को एक वार देखे—कैसा लगता है···

लेकिन यह लक्ष्मी कौन है? विधवा, कुमारी, विवाहिता, परित्यक्ता, क्या? कितनी वड़ी है? उसकी नस-नस में एक ऐसी प्रव मरोड़-सी उठने लगी कि वह अभी उठे और दौड़कर भीतर के आंग की सीढ़ियों से धड़ाधड़ चढ़ता हुआ ऊपर जा पहुंचे, लक्ष्मी जहां जिस कमरे में भी वैठी हो, उसके दोनों कंधे झकझोरकर पूछे, 'लक्ष्मी, यह सब तुमने लिखा है? तुम नहीं जानतीं लक्ष्मी, मैं कि अभागा हूं। मैं कतई इस सौभाग्य के लायक नहीं हूं।' और स इस अप्रत्याशित सौभाग्य से गोविन्द का हृदय इस तरह पसीज उ उसकी आंखों से आंसू आ गए। डोरी से लटकते हुए वल्व को देखता हुआ वह अपने अतीत और भविष्य की गहराइयों में

चला गया; फिर उसने धीरे से अपनी कोरों में भरे आंसुओं को उगली पर लेकर इस तरह झटक दिया जैसे देवता पर चन्दन चढा रहा हो। उसका ढीला पड़ा हाथ अब भी पत्रिका के पन्ने को पकड़े था।

एक बार उसने फिर उन पक्तियों को देखा। मान लो लक्ष्मी उसके साथ भाग आए! कहा जाएगे वे लोग? कैसे रहेंगे? उसकी पढ़ाई का क्या होगा? बाद में पकड लिए गए तो?

लेकिन आखिर यह लक्ष्मी है कौन?

लक्ष्मी के बारे मे प्रश्नो का एक झुण्ड उसके दिमाग पर टूट पडा, जैसे शिकारी कुत्तों का बाड़ा खोल दिया गया हो, या एक के बाद एक सिर पर हथौडे की कोई चोटें कर रहा हो, बडी निर्ममता और क्रूरता से। जैसे छत पर से अचानक गिर पडनेवाले आदमी के सामने सारी दुनिया एक झटके के साथ एक क्षण में चक्कर लगा जाती है, उसी तरह उसके सामने सैकडो-हजारो चीजें एकसाथ चमककर गायब हो गईं।

ईंटो के ऊंचे चौकोर तख्तनुमा चबूतरे पर पुरानी छोटी-सी सन्दूकची के आगे बैठा गोविन्द हिसाब लिख रहा था और अभी हिसाब न मिलने के कारण कच्चे पुरज़े इधर-उधर बिखरे थे, वे सब योंही बिखरे रहे। उसने खुले लेजर-रजिस्टर पर दोनो कुहनियां टिका दी और दोनो हथेलियों से आखें बन्द कर ली। कनपटी के पास की नसें चटख रही थी। ऐसा तो कभी देखा-सुना नही; सिनेमा, उपन्यासो मे भी नही देखा-पढा। सचमुच इन निशानों का क्या मतलब है? क्या लक्ष्मी ने ही ये लाइनें खीची हैं? हो सकता है, किसी बच्चे ने ही ये खीच दी हों, इस सम्भावना से थोडा चौंककर गोविन्द ने फिर पन्ना खोला—नही, बच्चा क्या सिर्फ उन्ही लाइनो के नीचे निशान लगाता? और लकीरें इतनी सधी और सीधी हैं कि किसी बच्चे की हो ही नही सकती। किसीने उसे व्यर्थ परेशान करने को तो निशान नहीं लगा दिए? हो सकता है। लक्ष्मी बहुत चुहलबाज़ हो और ज़रा छकाने को उसीने सब किया हो''

कि तीन दिन में ही ऐसी हिम्मत कर डाले।

उसने फिर पत्रिका निकालकर पूरी उलट-पुलट डाली। नहीं, निशान वही हैं, बस। वह उन तीनों लाइनों को फिर एकसाथ पढ़ गया और उसे ऐसा लगा जैसे उसके दिमाग में हवाई जहाज़ भन्ना उठा हो। गोविन्द का दिमाग चकरा रहा था, दिल धड़क रहा था और जो हिसाव वह लिख रहा था, वह तो जैसे एकदम भूल गया। उसने कलम के पिछले हिस्से से कान के ऊपर खुजलाया, खूब आंखें गड़ाकर जमा और खर्च के खानों को देखने की कोशिश की, लेकिन बस नस-नस में सन्-सन् करती कोई चीज़ दौड़ी जा रही थी। उसे लगा, उसका दिल फट जाएगा और आतिशबाज़ी के अनार की तरह दिमाग फट पड़ेगा। अब वह किससे पूछे…ये सब निशान किसने लगाए हैं ? क्या सचमुच लक्ष्मी ने?

इस मधुर सत्य पर विश्वास नहीं होता। मैं चाहे उसे न देख पाया होऊं, उसने तो ज़रूर ही मुझे देख लिया होगा। अरे, ये लड़कियां बड़ी तेज होती हैं। गोविन्द की इच्छा हुई, अगर उसे इसी क्षण शीशा मिल जाए तो वह लक्ष्मी की आंखों से अपने को एक बार देखे—कैसा लगता है…

लेकिन यह लक्ष्मी कौन है ? विधवा, कुमारी, विवाहिता, परित्यक्ता, क्या ? कितनी बड़ी है ? उसकी नस-नस में एक ऐसी प्रबल मरोड़-सी उठने लगी कि वह अभी उठे और दौड़कर भीतर के आंगन की सीढ़ियों से धड़ाधड़ चढ़ता हुआ ऊपर जा पहुंचे. [illegible] जहां भी, जिस कमरे में भी बैठी हो, उसके दोनों कंधे झकझ [illegible] 'लक्ष्मी, लक्ष्मी, यह सब तुमने लिखा है ? तुम नहीं जान [illegible] कित [illegible] अभागा हूं। मैं कतई इस सौभाग्य के लायक न [illegible] इस अप्रत्याशित सौभाग्य से गोविन्द का हृदय [illegible] उसकी आंखों से आंसू आ गए। डोरी से लटक [illegible] अ [illegible] देखता हुआ वह अपने अतीत और भविष्य क [illegible]

मिलिटरी के कबाड़िया बाजार से खरीदकर लाए गए मोज़ों पर बाधने की पट्टियां, जो शायद उन्हें गठिया के दर्द से भी बचाती थी। बिना फीते के खीसें निपोरते फटे-पुराने बूट ! उन्हें देखकर हमेशा गोविन्द को लगता कि इस आदमी का अन्त समय निकट आ गया है।

जब लाला रूपाराम पास आ गए तो उसने उनके सम्मान में चेहरे पर चिकनाईवाली मुस्कान लाकर उनकी ओर देखते हुए स्वागत किया। ईंटों के चबूतरे पर लगभग दो सौ स्याही के दाग और छेदवाली दरी पर, रामस्वरूप के उससे सटकर खड़े होने से, एक मोटी-सी सिकुड़न पड़ गई थी, उसे हाथ से ठीक करके उसने कहा, "लालाजी, यहां बैठिए '''"

लालाजी ने हांफते हुए बिना बोले ही इशारा कर दिया कि नहीं, वे ठीक हैं। और वे टीन की कुरसी पर ही उसकी ओर मुंह करके बैठ गए और हांफते रहे। असल में उन्हें सांस की बीमारी थी और वे हमेशा प्यासे कुत्ते की तरह हांफते रहते थे।

उनके यहां आ बैठने से एक बार तो गोविन्द कांप उठा। कहीं कम्बख्त को पता तो नहीं लग गया, कहीं कुछ पूछने-ताछने न आया हो ! हालांकि लाला रूपाराम इस समय खा-पीकर एक बार चक्कर जरूर लगाते थे, लेकिन उसे विश्वास हो गया कि हो न हो बुड्ढा ताड़ गया है। उसका दिल धमक चला। रूपाराम अभी हांफ रहे थे। गोविन्द सिर झुकाए ही हिसाब-किताब जोड़ता रहा। आखिर स्थिति संभालने की दृष्टि से उसने कहा, "लालाजी, आज मेरा नाम आ गया कॉलिज में।"

"अच्छा !" लालाजी ने खांसी के बीच में ही कहा। वे एक हाथ से डण्डे को धरती पर टेके थे, दूसरे हाथ में कलाई तक गोमुखी बंधी थी, जिसके भीतर अंगुलियां चला-चलाकर वे माला घुमा रहे थे और उनका यह हाथ टोटा-सा लग रहा था।

वातावरण का बोझ बढ़ता ही जा रहा था कि एक घटना हो गई।

यद्यपि गोविन्द इस तरह आंखें बन्द किए सोच रहा था, लेकिन उसे मन ही मन डर था कि मिस्त्री और दरबान उसे देखकर कुछ समझ न जाएं। सबसे बड़ा डर उसे लाला रूपाराम का था। अभी रुई-भरी, सकरपारोंवाली सिलाई की, मैली-सी पूरी बांहों की मिरजई पहने और उसपर मैली चीकट, युगों पुरानी अण्डी लपेटे, धीरे-धीरे हांफते हुए, बेंत टेकते, बड़े कष्ट से सीढ़ियां उतरकर वे आएंगे…

अचानक बेंत की खट्-खट् से चौंककर उसने जो आंखों के आगे से हाथ हटाए तो देखा, सच ही लाला रूपाराम चले आ रहे हैं। अरे कम्बख्त याद करते ही आ पहुंचा! बैठे हुए देख तो नहीं लिया? उसने झट पत्रिका को घुटने के नीचे और भी सरका लिया और सामने फैले पुरज़ों पर आंखें टिकाकर व्यस्त हो उठा। मिस्त्री और चौकीदार की खुसुर-पुसुर बन्द हो गई। गली-सी पार करके लाला रूपाराम ने प्रवेश किया।

मोटे-मोटे शीशों के पीछे से उनकी आंखें बड़ी होकर भयंकर दीखती थीं। आंखों और पलकों का रंग मिलकर ऐसा दिखाई देता था जैसे पीछे मोरपंख के चंदोवे लगे हों। सिर पर रुईभरा ही कनटोपा था। उसके कानों को ढकनेवाले मोटर के 'मडगार्ड' जैसे कोने अब ऊपर को मुड़े थे और पौराणिक राक्षसों के सींगों का दृश्य उपस्थित कर रहे थे। चेहरा उनका झुर्रियों से भरा था और चश्मे का फ्रेम नाक के ऊपर से टूट गया था। उसे उन्होंने डोरा लपेटकर मज़बूत कर लिया था। दांत उनके नकली थे और शायद ढीले भी थे; क्योंकि उन्हें वे हमेशा इस तरह मुंह चला-चलाकर पीछे सरकाए रखते थे जैसे 'चुइंगम' चबा रहे हों। गोविन्द को उनके इस मुंह चलाने और मुंह से निकलती तरह-तरह की आवाज़ों से बड़ी उबकाई-सी आती थी और जब वे उससे बात करते, तो वह प्रयत्न करके अपना ध्यान उस ओर से हटाए रखता। लाला रूपाराम की गरदन हमेशा इस तरह हिलती रहती जैसे खिलौनेवाले बुड्ढे की गरदन का स्प्रिंग ढीला हो गया हो। घुटनों तक की मैली-कुचैली धोती और

मिलिटरी के कबाड़िया बाज़ार से खरीदकर लाए गए मोज़ों पर बांधने की पट्टियां, जो शायद उन्हें गठिया के दर्द से भी बचाती थीं। बिना फीते के खोमें निपोरते फटे-पुराने बूट! उन्हें देखकर हमेशा गोविन्द को लगता कि इस आदमी का अन्त समय निकट आ गया है।

जब लाला रूपाराम पास आ गए तो उसने उनके सम्मान में चेहरे पर चिकनाईवाली मुस्कान लाकर उनकी ओर देखते हुए स्वागत किया। ईंटों के चबूतरे पर लगभग दो सौ स्याही के दाग और छेदवाली दरी पर, रामस्वरूप के उसमें सटकर खड़े होने से, एक मोटी-सी सिकुड़न पड़ गई थी, उसे हाथ से ठीक करके उसने कहा, "लालाजी, यहां बैठिए···।"

लालाजी ने हांफते हुए बिना बोले ही इशारा कर दिया कि नहीं, वे ठीक हैं। और वे टीन की कुरसी पर ही उसकी ओर मुंह करके बैठ गए और हांफते रहे। असल में उन्हें सांस की बीमारी थी और वे हमेशा प्यासे कुत्ते की तरह हांफते रहते थे।

उनके यहां आ बैठने से एक बार तो गोविन्द कांप उठा। कहीं कम्बख्त को पता तो नहीं लग गया, कहीं कुछ पूछने-ताछने न आया हो! हालांकि लाला रूपाराम इस समय खा-पीकर एक बार चक्कर ज़रूर लगाते थे, लेकिन उसे विश्वास हो गया कि हो न हो बुड्ढा ताड़ गया है। उसका दिल धमक चला। रूपाराम अभी हांफ रहे थे। गोविन्द सिर झुकाए ही हिसाब-किताब जोड़ता रहा। आखिर स्थिति संभालने की दृष्टि से उसने कहा, "लालाजी, आज मेरा नाम आ गया कॉलिज में।"

"अच्छा!" लालाजी ने खांसी के बीच में ही कहा। वे एक हाथ से डण्डे को धरती पर टेके थे, दूसरे हाथ में कलाई तक गोमुखी बंधी थी, जिसके भीतर अंगुलियां चला-चलाकर वे माला घुमा रहे थे और उनका वह हाथ टोंटा-सा लग रहा था।

वातावरण का बोझ बढ़ता ही जा रहा था कि एक घटना हो गई।

उन्होंने सांस इकट्ठी करके कुछ वोलने को मुंह खोला ही था कि भीतर आंगन का टट्टर (लोहे का जाल) भयंकर रूप से झनझना उठा, जैसे कोई वहुत ही भारी चीज़ ऊपर से फेंक दी गई हो। और फिर ज़ोर से वजती हुई खनखनाती कलछी जैसी चीज़ नीचे आ गिरी ; उसके पीछे चिमटा, संड़ासी'''और फिर तो उसे ऐसा लगा जैसे कोई वाल्टी कढ़ाई, तवा इत्यादि निकालकर टट्टर पर फेंक रहा है और पानी और छोटी-मोटी चीज़ें नीचे गिर रही हैं। उसके साथ कुछ ऐसा कोलाहल और कुहराम भीतर सुनाई दिया जैसे आग लग गई हो।

गोविन्द झटककर सीधा हो गया—कहीं सचमुच आग-वाग तो नहीं लग गई ? उसने प्रश्नसूचक दृष्टि से चौंककर लालाजी की तरफ देखा और वह आश्चर्य से अवाक् रह गया। लालाजी परेशान ज़रूर दिखाई देते थे, लेकिन कोई भयंकर घटना हो गई है और उन्हें दौड़कर जाना चाहिए, ऐसी कोई वात उनके चेहरे पर नहीं थी। मिस्त्री और चौकीदार, दोनों वड़े दवे व्यंग्य से एक-दूसरे की ओर देखते-मुस्कराते, लालाजी की ओर निगाहें फेंक रहे थे। किसीको भी कोई खास चिन्ता नहीं थी। भीतर कोलाहल वढ़ रहा था, चीज़ें फिक रही थीं और टट्टर की खड़खड़ाहट-घनघनाहट गूंजती जा रही थी। आखिर यह क्या हो रहा है ? उत्तेजना से उसकी पसलियां तड़कने को हो आईं। वह लालाजी से यह पूछने ही वाला था कि यह क्या है, तभी वड़े कष्ट से हाथ की लकड़ी पर सारा ज़ोर देकर वे उठ खड़े हुए''''''और घिसटते-से जहां से आए थे उसी गली में चले गए। जाते हुए उलटकर धीरे से उन्होंने किवाड़ वन्द कर दिए। मिस्त्री और चौकीदार ने मुक्त होकर वदन ढीला किया, एक-दूसरे की ओर मुस्कराकर देखा, खंखारा और फिर एक वार खुलकर मुस्कराए। लालाजी का पीछा करती गोविन्द की निगाह अव उन लोगों की ओर मुड़ गई और जव उससे नहीं रहा गया तो वह खड़ा हो गया। मुर्गे के पंखों की तरह कम्वल को वांहों पर फड़-

फड़ाकर उसने लपेटा और उस पत्रिका को देखता हुआ चबूतरे से नीचे उतर आया, थोड़ी देर योंही असमंजस में खड़ा रहा, फिर उस गलियारे के दरवाज़े तक गया कि कुछ दिखाई-सुनाई दे। कोलाहल मे चार-पांच आवाज़ें एकसाथ किवाड की दरार से घुटी-घुटी सुनाई दी और उनमे सबसे तेज़ आवाज वही थी जिसे वह लक्ष्मी की आवाज़ समझता था। हे भगवान, क्या हो गया? कोई कही से गिर पड़ा, आग लग गई, साप-बिच्छू ने काट लिया? लेकिन जिस तरह ये लोग बैठे देख रहे थे, उससे तो ऐसा लगता था जैसे यह कोई खास बात नही है। यह कम्बख्त किवाड क्यो बन्द कर गया? इस वक्त टट्टर इस तरह धमाधम बज रहा था, जैसे उसपर कोई ताण्डव कर रहा हो। उस ऊची, चीखती महीन आवाज मे वह नारी-कंठ, जिसे वह लक्ष्मी की आवाज़ समझता था, इतना तेज और ज़ोर से बोल रहा था कि लाख कोशिश करने पर भी वह कुछ नही समझ सका।

"परेशान क्यो हो रहे हो बाबूजी?" चौकीदार की आवाज़ सुनकर वह एकदम सीधा खड़ा हो गया। मुस्कराता हुआ वह कह रहा था, "आज चण्डी चेत रही है!" उसकी इस बात पर मिस्त्री हसा।

गोविन्द बुरी तरह झुंझला उठा। कोई इतनी बडी बात, घटना, हो रही है और ये बदमाश इस तरह मजा लूट रहे है! फिर भी वह अत्यन्त चिन्तित और उत्सुक-सा उधर मुडा।

इस बडे कमरे या छोटे हॉल मे हर चीज पर आटे का महीन पाउडर छाया हुआ था। एक ओर आटे मे नहाई चक्की, काले पत्थर के बने हाथी की तरह चुपचाप खडी थी और उसका पिसे आटे को संभालनेवाला गिलाफ-सा सूड की तरह लटका था। उसीकी सीध मे दूसरी दीवार के नीचे मोटर लगी थी, जहा से एक चौडा पट्टा चक्की को चलाता था। इतने हिस्से मे सुरक्षा के लिए एक रेलिंग लगा दिया था। सामने की दीवार में चिपके लम्बे-चौड़े लाल चौकोर तख्ते पर एक

कालेन्तार ट्यूब, रबर की कतरनें, कैंची, पेंच, प्लास, सॉल्यूशन, चमड़े की पेटी और एक ओर टायर लटके दस-बारह साइकल के पहियों का ढेर था। अपने इस सामान से उसने आधे से ज्यादा कमरा घेर लिया था।

जब गोविन्द उसके पास आया तो वह सिर झुकाए ही हंसता हुआ ट्यूब का पंक्चर पकड़कर कान में लगी कॉपिंग पेन्सिल को थूक से गीला करते हुए, (हालांकि ट्यूब पानी में भीगा था और सामने बाल्टीभरा पानी भी रखा था) निशान लगाता हुआ जवाब दे रहा था, "यह कहा जमादार साहब ने !" फिर एक भौंह को जरा तिरछी करके बोला, "लाला बुद्ध नामा हीला करें तो उनकी लड़की पर जिन का साया है, उसका इलाज तो हम अपने मौलवी बदरुद्दीन साहब से मिनटों में करा दें।"

गोविन्द का माथा ठनका—लाला की किसी लड़की पर क्या कोई देवी आती है? उसे अपने गांव की एक ब्राह्मणी विधवा तारा का एकदम ध्यान हो आया। उसे भी जब देवी आती थी तो घर के बरतन उठा-उठाकर फेंकती थी, उसका सारा बदन ऐंठने लगता था, मुंह से झाग आने लगते थे, गरदन मरोड़ खाने लगती थी, आंखें और जीभ बाहर निकलने लगती थीं। कौन लड़की है लाला की? लक्ष्मी तो नहीं? भगवान करे लक्ष्मी न हो! उसका दिल आशंका में डूबने-सा लगा। उसने सुना, कोलाहल अब लगभग शान्त हो गया था और कहीं दूर से रह-रहकर एक दर्द भरी रोने की आवाज-भर सुनाई देती थी। शायद किसीको दौरा-वौरा ही आ गया है, तभी तो ये लोग निश्चिन्त हैं।

गोविन्द को सुनाकर चौकीदार बोला, "लामा, तुम भी यार मिस्त्री किसी दिन बेचारे बुड्ढे का हार्ट फेल कराओगे। और बेटा, इस 'जिन' का इलाज तुम्हारे मौलवी के पास नहीं है, समझे? वह तो हवा ही दूसरी है। आओ बाबूजी, बैठो।"

चौकीदार ने बैठे-बैठे स्टूल की तरफ इशारा किया। असल में वह

गोविन्द को 'बाबूजी' जरूर कहता था, लेकिन उसका विशेष आदर नहीं करता था। एक तो गोविन्द गढ़े से आया था, और उसे शहर में नौकरी-दारी करते हो चुके थे करीब तीन साल; दूसरे वह फौज में रहा था और कैरो तक घूम आया था। उम्र, अनुभव, तहजीब, सभी में अपने को गोविन्द से ज्यादा ही समझता था। लेकिन गोविन्द को इस समय इन सबका ध्यान नहीं था। उसने स्टूल से खिसककर जरा नज़दीक होते हुए चिन्तित स्वर में पूछा, "क्यों भई, यह शोर-गुल क्या था? क्या हो रहा था?"

मिस्त्री ने सिर उठाकर उसे देखा और चौकीदार की मुस्कराती नजरों से उसकी आंखें मिलीं। उसने अपनी खिचड़ी मूंछों पर हथेली फेरते हुए कहा, "कुछ नहीं बाबूजी, ऊपर कोई चीज किसी बच्चे ने गिरा दी होगी।"

मिस्त्री ने कहा, "जमादार साहब, झूठ क्यों बोलते हो? साफ-साफ क्यों नहीं बता देते? अब इनसे क्या छिपा रहेगा?"

"तू खुद क्यों नहीं बता देता?" चौकीदार ने कहा और जेब से बीड़ी का बण्डल निकाल लिया। कागज खोलकर गाठ की चोटी दबाने की तरह उसे ढीला किया, फिर एक बीड़ी निकालकर मिस्त्री की ओर फेंकी। दूसरी को दोनों तरफ से फूंका और जलाने के लिए किसी दहकते कोयले की तलाश में बरोसी में निगाहें घुमाते हुए जरा व्यस्तता से बात जारी रखी, "तुझे क्या मालूम नहीं है?"

इन दोनों की चुहल से गोविन्द की झुंझलाहट बढ़ रही थी। उसे लगा, जरूर ही दाल में कुछ काला है, जिसे ये लोग टाल रहे हैं। मिस्त्री जीभ निकाले पंक्चर के स्थान को रेगमाल से घिस रहा था। वह जब भी कोई काम एकाग्रचित्त हो करता तो अपनी जीभ निकालकर ऊपर के होंठ की तरफ मोड़ लेता। उसकी चांद के बीच में उभरते गंज को देखकर गोविन्द ने सोचा कि गंजापन तो रईसी की निशानी है, लेकिन यह कम्बख्त तो आधी रात में यहां पंक्चर जोड़ रहा है। उसने उसी

तरह सिर झुकाए ही कहा, "अब मैं बाबूजी को किस्सा बताऊं या इन टयूबों से सिर फोड़ूं ? साले सड़कर हलुआ तो हो गए हैं, पर बदलेगा नहीं। मन तो होता है, सबको उठाकर इस अंगीठी में रख दूं, होगा सुबह सो देखा जाएगा।"

"ये इतने टयूब हैं काहे के ?" जरा आत्मीयता जताने को गोविन्द ने पूछा, "हालत तो सचमुच इनकी बड़ी खराब हो रही है।"

"आपको नहीं मालूम ?" इस बार काम छोड़कर मिस्त्री ने गौर से गोविन्द को देखा, "ये आपके लाला के जो दो दर्जन रिक्शा चलते हैं, उनका कूड़ा है। यह तो होता नहीं कि इतने रिक्शे हैं, रोज टूट-फूट, मरम्मत होती ही रहती है; हमेशा के लिए लगा लें एक मिस्त्री, दिन-भर की छुट्टी हुई। सो तो होगा नहीं, टयूब-टायर मेरे सिर हैं और बाकी टूट-फूट मिस्त्री अलीअहमद ठीक करते हैं।" फिर उसने यूंही पूछा, "आप बाबूजी, नये आए हैं ?"

"हां, दो-तीन दिन ही तो हुए हैं। मैं यहां पढ़ने आया हूं।" गोविन्द ने कहा। उसके पेट में खलबलाहट मच रही थी, लेकिन वह नये सिरे से पूछने को सूत्र खोज रहा था।

"तभी तो," मिस्त्री बोला, "तभी तो आप यह सब पूछ रहे हैं। रात को इसका हिसाब रखते हैं न ? हां, थोड़े दिनों में अपने फरजन्दको भी आपसे पढ़वाएगा।" अपने 'फरजन्द' शब्द में जो व्यंग्य उसने दिया था उससे खुद ही प्रसन्न होकर मुस्कराते हुए उसने चौकीदार की दी हुई बीड़ी सुलगाई।

"अबे, उन्हें यह सब क्या बताता है ! वे तो उसके गांव से ही आए हैं। उन्हें सब मालूम है।" चौकीदार बोला।

"नहीं, सच मुझे कुछ नहीं मालूम," गोविन्द ने जरा आश्वासन के स्वर में कहा, "इन लाला के तो पिता ही यहां चले आए थे न, सो हम लोगों को कुछ भी नहीं मालूम, बताइए न, क्या बात है ?" गोविन्द ने

ंक ज़रा खुशामद के लहजे में पूछा।
ायद उसकी जिज्ञासु व्याकुलता से प्रभावित होकर ही मिस्त्री

"अजी कुछ नहीं, लाला की वड़ी लड़की जो है न, उसे मिरगी का
आता है। कोई कहता है उसे हिस्टीरिया है, पर हमारा तो कयास
है कि वावूजी, दौरा-वौरा कुछ नहीं, उसपर किसी आसेव का साया
'उस वेचारी को तो कुछ होश रहता नहीं।"

"विधवा है?" जल्दी से वात काटकर गोविन्द धक्-धक् करते दिल
पूछ वैठा—हाय, लक्ष्मी ही न हो !

इस वार पुनः दोनों की निगाहों का आपस में टकराकर मुस्कराना
उससे छिपा न रहा। वीड़ी के लम्बे कश के धुएं को लीलकर इस वार
चौकीदार ज़वरदस्ती गम्भीर वनकर वोला, "अजी, इसने उसकी शादी
ही कहां की है?"

"नाम क्या है?" गोविन्द से नहीं रहा गया।

"लक्ष्मी।"

"लक्ष्मी···!" उसके मुंह से निकल गया और जैसे एकदम उसकी
सारी शक्ति किसीने सोख ली हो, जिज्ञासा और उत्तेजना से तना शरीर
ढीला पड़ गया।

चौकीदार इस वार अत्यन्त ही रहस्यमय ढंग से हंसा, जैसे कह रहा
हो, 'अच्छा तुम भी जानते हो?'

गोविन्द के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठा—'उसकी उम्र क्या है?

लेकिन चौकीदार ने पूछा, "तो सचमुच वावूजी, आप इनके घर
वारे में कुछ भी नहीं जानते?"

"नहीं तो भाई ! मैंने वताया तो, मैं इनके वारे में कुछ भी, क
नहीं जानता।" एक तरह आत्मसमर्पण के भाव से गोविन्द वोला। चौक

"लेकिन लक्ष्मी का किस्सा तो सारे शहर में मशहूर है।"
वोला।

"आप शायद नये-नये आए हैं, यही वजह है।" फिर मिस्त्री की ओर देखकर बोला, "क्यों मिस्त्री साहब, तो बाबूजी को किस्सा बता ही दूं...।"

"अरे लो, यह भी कोई पूछने की बात है? इसमें छिपाना क्या? यहां रहेंगे तो कभी न कभी जान ही जाएंगे।"

"अच्छा तो फिर सुन ही लो यार, तुम भी क्या कहोगे..." चौकीदार ने आनन्द में आकर कहना शुरू किया, "आप शायद जानते हैं, यह हमारा लाला शहर का मशहूर कजूस और मशहूर रईस है...।"

"लामुहाला जो कजूस होगा वह रईस तो होगा ही।" मिस्त्री बोला।

"नहीं मिस्त्री साहब, पूरा किस्सा सुनना हो तो बीच में मत टोको।" चौकीदार इस हस्तक्षेप पर नाराज हो गया।

"अच्छा, अच्छा, सुनाओ।" मिस्त्री बुद्धों की तरह मुस्कराया।

"इसकी यह चक्की है न, महाजनों में इसपर हजारों मन पिसता है; वैसे भी दो-ढाई सौ मन तो कम से कम पिसता ही है रोज। अफसरों और क्लर्कों को कुछ खिला-पिलाकर लड़ाई के जमाने में इसे मिलिटरी के कुछ ठेके मिल ही जाते थे। आप जानो, मिलिटरी का ठेका तो जिसके पास आया सो बना। आप उन दिनों देखते 'लक्ष्मी फ्लोर मिल' के हाले। बोरे यों चुने रखे रहते थे जैसे मोरचे के लिए बालू भर-भरकर रख दिए हों। उसमें इसने खूब रुपया पीटा। मिलिटरी के गेहूं बेच दिए औने-पौने भाव, और रद्दी गल्लेवाले खरीदकर कांटा पूरा किया। उसमें खड़िया मिला दी। पिसाई के उलटे-सीधे पैसे तो इसने मारे ही, ब्लैक, चार सौ बीसी, चोरी, क्या-क्या इसने नहीं किया? इसके अलावा, एक बहुत बड़ी साबुन की फैक्ट्री और एक काफी बड़ा जूतों का कारखाना भी इसका है। उसे इसके बेटे संभालते हैं। पच्चीस-तीस रिक्शे और पांच मोटर-ट्रक चलते हैं। दस-बारह से ज्यादा इसके मकान हैं, किराया आता है। रुपये सूद पर देता है। साथ...

ज़मीन इसने ले रखी है। एक काम है साले का ? इतना तो हमें पता है, बाकी इसकी असली आमदनी तो कोई भी नहीं जानता, कुछ न कुछ करता ही रहता है। भगवान ही जाने ! रात-दिन किसी न किसी तिकड़म में लगा ही रहता है। करोड़ों का आसामी है। और सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि यह सब सिर्फ इसी पच्चीस-छब्बीस साल में जमा की हुई रकम है।" चौकीदार दिलावरसिंह मिलिटरी में रह आने के कारण खूब बातूनी था और मोरचे के, अपने अफसरों के किस्सों को, अपनी बहादुरी के कारनामों को खूब नमक-मिर्च लगाकर इतनी बार सुना चुका था कि उसे कहानी सुनाने का मुहावरा हो गया था। हर बात के उतार-चढ़ाव के साथ उसकी आंखें और चेहरे की भंगिमाएं बदलती रहती थीं।

उसकी बातें गौर और रुचि से सुनते हुए भी गोविन्द के मन में एक बात टकराई—'लक्ष्मी को दौरे आते हैं, कहीं ऐसा तो नहीं कि उसने जो ये निशान लगाकर भेजे हैं, ये भी दौरे की दशा में ही लगाए हों और उनका कोई विशेष गहरा अर्थ न हो।' इस बात से सचमुच उसे बड़ी निराशा हुई, फिर भी उसने ऊपर से आश्चर्य प्रकट करके पूछा, "सिर्फ पच्चीस-छब्बीस साल ?"

नई बीड़ी जलाते हुए चौकीदार ने ज़रा ज़ोर से सिर हिलाया। गोविन्द ने सोचा—'और लक्ष्मी की उम्र क्या होगी ?'

"और कंजूसी की तो हद आपने देख ही ली होगी। बुड्ढा हो गया है, सांस का रोग हो रहा है, सारा बदन कांपता है, लेकिन एक पैसे का भी फायदा देखेगा तो दस मील धूप में हांफता हुआ पैदल जाएगा। क्या मजाल जो सवारी कर ले ! गरमी आई तो पूरा शरीर नंगा; कमर में धोती—आधी पहने, आधी बदन में लपेटे। जाड़ा हुआ तो यही ड्रैस, बस इसीमें पिछले दस साल से तो मैं देख रहा हूं। कभी किसी मकान की मरम्मत न कराना, सफेदी-सफाई न करना और हमेशा यही ध्यान

रखना कि कौन कितनी बिजली खर्च कर रहा है, कहाँ बेकार नल या पंखा चल रहा है। लड़का है सो उसे मुफ्त के धुन्नी के स्कूल में डाल दिया है; लड़की घर पर बिठा रखी है। एक-एक पैसे के लिए घण्टों रिक्शावालों, ठुकवालों से लड़ना, बहसें करना और चक्कीवालों की नाक में दम रखना, उन्हें दिन-रात यह सिखाना कि किस चालाकी से आटा बचाया जा सकता है। बीसियों रुपये का आटा रोज होटलवालों को बिकता है, सो अलग। जिस दिन से चक्की खुली है, घर के लिए तो आटा बाजार से आया ही नहीं। आप विश्वास कीजिए, कम से कम बारह-पन्द्रह हजार की आमदनी होगी इसकी, लेकिन सूरत देखिए, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं। किसी आने-जानेवाले के लिए एक कुर्सी तक नहीं, पान-सुपारी की तो बात ही दूर है। कौन कह देगा कि यह पैसेवाला है ? यह उम्र होने आई, सुबह से शाम तक बस पैसे के पीछे हाय-हाय ! दुनिया के किसी और काम से मतलब ही नहीं। सभा हो, सोसाइटी हो, हड़ताल हो, छुट्टी हो, युद्ध भी हो, लेकिन लाला रूपराम अपनी ही धुन में मस्त ! नौकरों को कम से कम देना पड़े, इसलिए खुद ही उनके काम को देखता है। मुझसे तो कुछ इसलिए नहीं कहता कि मुझपर थोड़ा विश्वास है; दूसरे, मेरी जरूरत सबसे बड़ी है। लेकिन बाकी हर नौकर रोता है इसके नाम को, और मज़ा यह कि सब जानते हैं कि झक्की है। कोई इसकी बात को ध्यान से सुनता नहीं। बाद में सब इसका नुकसान करते हैं, आसपास के सभी हँसते और गालियाँ देते हैं...."

"बच्चे कितने हैं ?" चौकीदार को इन बेकार की बातों में बहता देखकर गोविन्द ने सवाल किया।

"उसी बात पर आता हूँ," चौकीदार इत्मीनान से बोला, "बाबूजी, मैं यह देख-देखकर हैरान हूँ कि इस उम्र तक तो इसने दौलत जुटाई है, अब इसका यह कम्बख्त करेगा क्या ? लोग जमा

ज़मीन इसने ले रखी है। एक काम है साले का? इतना तो हमें पता है, बाकी इसकी असली आमदनी तो कोई भी नहीं जानता, कुछ न कुछ करता ही रहता है। भगवान ही जाने! रात-दिन किसी न किसी तिकड़म में लगा ही रहता है। करोड़ों का आसामी है। और सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि यह सब सिर्फ इसी पच्चीस-छब्बीस साल में जमा की हुई रकम है।" चौकीदार दिलावरसिंह मिलिटरी में रह आने के कारण खूब बातूनी था और मोरचे के, अपने अफसरों के किस्सों को, अपनी बहादुरी के कारनामों को खूब नमक-मिर्च लगाकर इतनी बार सुना चुका था कि उसे कहानी सुनाने का मुहावरा हो गया था। हर बात के उतार-चढ़ाव के साथ उसकी आंखें और चेहरे की भंगिमाएं बदलती रहती थीं।

उसकी बातें गौर और रुचि से सुनते हुए भी गोविन्द के मन में एक बात टकराई—'लक्ष्मी को दौरे आते हैं, कहीं ऐसा तो नहीं कि उसने जो ये निशान लगाकर भेजे हैं, ये भी दौरे की दशा में ही लगाए हों और उनका कोई विशेष गहरा अर्थ न हो।' इस बात से सचमुच उसे बड़ी निराशा हुई, फिर भी उसने ऊपर से आश्चर्य प्रकट करके पूछा, "सिर्फ पच्चीस-छब्बीस साल?"

नई बीड़ी जलाते हुए चौकीदार ने जरा ज़ोर से सिर हिलाया। गोविन्द ने सोचा—'और लक्ष्मी की उम्र क्या होगी?'

"और कंजूसी की तो हद आपने देख ही ली होगी। बुड्ढा हो गया है, सांस का रोग हो रहा है, सारा बदन कांपता है, लेकिन एक पैसे का भी फायदा देखेगा तो दस मील धूप में हांफता हुआ पैदल जाएगा। क्या मजाल जो सवारी कर ले! गरमी आई तो पूरा शरीर नंगा; कमर में धोती—आधी पहने, आधी बदन में लपेटे। जाड़ा हुआ तो यही ड्रैस, बस इसीमें पिछले दस साल से तो मैं देख रहा हूं। कभी किसी मकान की मरम्मत न कराना, सफेदी-सफाई न करना और हमेशा यही ध्यान

रखना कि कौन कितनी बिजली खर्च कर रहा है, कहां बेकार नल या पंखा चल रहा है। लड़का है सो उसे मुफ्त के चुङ्गी के स्कूल में डाल दिया है; लड़की घर पर बिठा रखी है। एक-एक पैसे के लिए घण्टों रिक्शावालों, ट्रकवालों से लड़ना, बहस करना और चक्कीवालों की नाक में दम रखना, उन्हें दिन-रात यह सिखाना कि किस चालाकी से आटा बचाया जा सकता है। बीसियों रुपये का आटा रोज होटलवालों को बिकता है, सो अलग। जिस दिन से चक्की खुली है, घर के लिए तो आटा बाजार से आया ही नहीं। आप विश्वास कीजिए, कम से कम बारह-पन्द्रह हजार की आमदनी होगी इसकी; लेकिन सूरत देखिए, मक्खियां भिनभिनाती रहती हैं। किसी आने-जानेवाले के लिए एक कुरसी तक नहीं, पान-सुपारी की तो बात ही दूर है। कौन कह देगा कि यह पैसेवाला है? यह उम्र होने आई, सुबह से शाम तक बस पैसे के पीछे हाय-हाय! दुनिया के किसी और काम से मतलब ही नहीं। सभा हो, सोसाइटी हो, हड़ताल हो, छुट्टी हो, कुछ भी हो, लेकिन लाला रूपाराम अपनी ही धुन में मस्त! नौकरों को कम से कम देना पड़े, इसलिए खुद ही उनके काम को देखता है। मुझसे तो कुछ इसलिए नहीं कहता कि मुझपर थोड़ा विश्वास है, दूसरे, मेरी जरूरत सबसे बड़ी है। लेकिन बाकी हर नौकर रोता है इसके नाम को, और मजा यह कि सब जानते हैं कि झक्की है। कोई इसकी बात को ध्यान से सुनता नहीं। बाद में सब इसका नुकसान करते हैं, आसपास के सभी हंसते और गालियां देते हैं...."

"बच्चे कितने हैं?" चौकीदार को इन बेकार की बातों में बहकता देखकर गोविन्द ने सवाल किया।

"उसी बात पर आता हूं," चौकीदार इतमीनान से बोला, "सच बाबूजी, मैं यह देख-देखकर हैरान हूं कि इस उम्र तक तो इसने यह दौलत जुटाई है, अब इसका यह कम्बख्त करेगा क्या? लोग जमा करते

हैं कि बैठकर भोगें, लेकिन यह राक्षस तो जमा करने में ही लगा रहता है। इसे जमा करने की ही ऐसी हाय-हाय रही है कि दौलत किसलिए जमा की जाती है, इस बात को यह बेचारा बिलकुल ही भूल गया है।" फिर बड़े चिन्तित और दार्शनिक मूड में दिलावरसिंह ने आगवाली राख को देखते हुए कहा, "इस उम्र तक तो इसे जोड़ने की ऐसी हवस है, अब इसका यह भोग कब करेगा ? सचमुच बाबूजी, जब मैं कभी सोचता हूं तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। देखो, आज की तारीख तक यह बेचारा भाग-दौड़कर, लू-धूप की चिन्ता छोड़कर जमा कर रहा है। एक पाई उसमें से खा नहीं सकता, जैसे किसी दूसरे का हो। अब मान लीजिए, कल यह मर जाता है तो यह सब किसके लिए जमा किया गया ? बेचारे के साथ कैसी लाचारी है—मरकर, जीकर, नौकर की तरह जमा किए जा रहा है। न खुद खा सकता है, न देख सकता है कि कोई दूसरा छू भी ले, जैसे धन के ऊपर बैठा सांप; खुद उसे खा नहीं सकता, खाने तो खैर देगा ही क्या ? उसकी रखवाली करना और जोड़ना···" और लाला रूपाराम के प्रति दया से अभिभूत होकर चौकीदार ने एक गहरी सांस ली। फिर दूसरे ही क्षण दांत किटकिटाता हुआ बोला, "और कभी-कभी मन होता है, छुरा लेकर साले की छाती पर जा चढ़ूं, और मुरब्बे के आम की तरह गोदूं। अपने पेट में जो इसने इतना धन भर रखा है, उसकी एक-एक पाई उगलवा लूं। चाहे खुद न खाए, लेकिन जिसे अपने बच्चों को भी खिला-पिला नहीं सकता, उस धन का क्या होगा ?"

"इसके बच्चे कितने हैं···" इस बार फिर गोविन्द अधीर हो आया। असल में वह चाहता था कि इन दार्शनिक उद्‌गारों को छोड़कर जल्दी से जल्दी मूल विषय पर आ जाए, लक्ष्मी के विषय में बताए।

वर्णन में बह जाने की अपनी कमजोरी पर चौकीदार मुस्कराया और बोला, "इसके बच्चे हैं चार; बीवी मर गई, बाकी किसी नातेदार-रिश्तेदार को झांकने नहीं देता, ऊपर कोई नौकर भी नहीं है। बस, एक

मरी-मराई-सी बुढ़िया पाल ली है; लोग बड़े भाई की बीवी बताते है। बस, वही सारी देखभाल करती है। और तो किसीको मैंने साथ देखा नही। खुद, तीन लड़के और एक लड़की ...।"

"बड़े दो लड़के तो साथ नही रहते।" इस बार मिस्त्री बोला।

"हा, वे लोग अलग ही रहते हैं। दिन मे एकाध चक्कर लगा जाते हैं। एक जूतों का कारखाना देखता है, दूसरा साबुन की फैक्ट्री सभालता है। इस साले को उनपर भी विश्वास नही है। पूरे कागज-पत्तर, हिसाब-किताब अपने पास ही रखता है; नियम से शाम को वहा जाता है वसूली करने। लेकिन लड़के भी बड़े तेज है, जरा शौकीन तबियत पाई है। इसके मरने ही देख लेना मिस्त्री, वे इसकी सारी कजूसी निकाल डालेंगे।" फिर याद करके बोला, "और क्या कहा तुमने? साथ रहने की बात, सो भैया, जब तक अकेले थे, तब तक तो कोई बात ही नही थी, लेकिन अब तो उनकी बीविया आ गई हैं न, एकाध बच्चा भी आ गया है घर मे, सो उसे दिन-भर गोदी मे लटकाए फिरता है। इसके घर मे एक चण्डी जो है न, उसके साथ सबका निभाव नही हो सकता।"

एकदम गोविन्द के मन मे आया—लक्ष्मी। और वह ऊपर से नीचे तक सिहर उठा। "कौन, लक्ष्मी?" उसके मुह से निकल गया।

"जी हा, उसकी बदौलत तो यह सारा खेल है; वही तो इस भण्डारे की चाबी है। वह न होती तो यह सब ताम-झाम आता कहा से? उसने तो इसके दिन ही पलट दिए, नही तो था क्या इसके पास?" इस बार यह बात चौकीदार ने ऐसे लटके से कही, जैसे सचमुच किसी रहस्य की चाबी दे दी हो।

"कैसे भाई, कैसे?" गोविन्द पूछ बैठा। उसका दिमाग चकरा गया। यह क्या विरोधाभास है? एक पल को उसके दिमाग मे आया—'कही यह रुपया कमाने के लिए तो लक्ष्मी का उपयोग नही करता?

त ! चाण्डाल !'

उसकी व्याकुलता पर चौकीदार फिर मुस्कराया और बोला, "बाप इसका ऐसा रईस था भी नहीं, फिर वह कच्ची गृहस्थी छोड़कर मर ा था। ज़्यादा से ज़्यादा हज़ार-हज़ार रुपया दोनों भाइयों के पल्ले ड़ा होगा। शादियां दोनों की हो ही चुकी थीं। कुछ कारबार खोलने के विचार से यह सट्टे में अपने रुपये दूने-चौगुने करने जो पहुंचा तो सारे गंवा आया। बड़े भैया रोचूराम ने एक पनचक्की खोल डाली। पहले तो उसकी भी हालत डावांडोल रही थी, लेकिन सुनते हैं कि जब से उसकी लड़की गौरी पैदा हुई, उसकी हालत संभलती ही चली गई। यह उसीके यहां काम करता था, मियां-बीबी वहीं पड़े रहते। ऐसा कुछ उस लड़की का पांव आया कि लाला रोचूराम सचमुच के लाला हो गए। इन लोगों के बड़े-बूढ़ों का कहना था कि लड़की उनके खानदान में भगवान होती है। अब तो यह अपना लाला कभी इस ओझा के पास जा, कभी उस पीर के पास जा, कभी इसकी 'मानता', कभी उसका 'संकल्प'। दिन-रात बस यही कि हे भगवान, मेरे लड़की हो, और पता नहीं कैसे, भगवान ने सुन ली और लड़की ही आई। आप विश्वास नहीं करेंगे, फिर तो सचमुच ही रूपाराम के नक्शे बदलने लगे। पता नहीं, गड़ा हुआ मिला या छप्पर फाड़कर मिला, लाला रूपाराम के सिता फिर गए...। इसे विश्वास होने लगा कि यह सब इसीकी कृपा है औ वास्तव में यह कोई देवी है। इसने उसका नाम लक्ष्मी रखा और साह कहना पड़ेगा कि लक्ष्मी सचमुच लक्ष्मी ही बनकर आई। थोड़े दिनो ही 'लक्ष्मी फ्लोर मिल' अलग बन गई। अब तो इसका यह हाल कि मिट्टी भी छू दे तो सोना बन जाए और कंकड़ को उठा ले तो दीखे। फिर आ गई लड़ाई और इसके पंजे-छक्के हो गए। इसे मिलने लगे। समझिए, एक के बाद एक मकान खरीदे जाने लगे। लाने ले जानेवाले ट्रक आए। इधर रोचूराम भी फल रहा थ

दोनों भाई गर्व से कहते थे—'हमारे यहां लड़कियां लक्ष्मी बनकर ही आती हैं।' लेकिन फिर एक ऐसा वाकया हो गया कि तस्वीर की शक्ल बदल गई···" चौकीदार दिलावरसिंह जानता था कि यह उसकी कहानी का क्लाइमैक्स है, इसलिए श्रोताओं की उत्सुकता को भटका देने के लिए उसने उंगलियों में दबी, व्यर्थ जलती बीड़ी को दो-तीन कश लगाकर खत्म किया और बोला .

"गौरी शादी लायक हो गई थी। शायद किसी पड़ोसी लड़के को लेकर कुछ ऐसी-वैसी बातें भी लाला रोचूराम ने सुनीं। लोगों ने भी उंगलियां उठाना शुरू कर दिया तो उन्होंने गौरी की शादी कर दी। बस, उसकी शादी होना था कि जैसे एकदम सारा खेल बिगड़ गया। उसके जाते ही लाला एक बहुत बड़ा मुकदमा हार गया और भगवान की लीला देखिए, उन्हीं दिनों उसकी पनचक्की में आग लग गई। कुछ लोगों का कहना तो यह है कि किसी दुश्मन का काम था। जो भी हो, बड़े हाथी की तरह जो एकबारगी गिरे तो उठना दुश्वार हो गया। लोग रुपये दाब गए और उनका दिवाला निकल गया। दिवाला क्या जी, एक तरह से बिलकुल मटियामेट हो गए; सब कुछ चौपट हो गया और छल्ला-छल्ला तक बिक गया। एक दिन लालाजी की लाश तालाब में फूली हुई मिली। अब तो हमारे लाला रूपाराम को सांप सूंघ गया, उनके कान खड़े हुए और लक्ष्मी पर पहरा बिठा दिया गया। उसे स्कूल से उठा लिया गया, और वह दिन सो आज का दिन, बेचारी नीचे नहीं उतरी। घर के भीतर न किसीको आने देता है, न जाने देता है। मास्टर रखकर पढ़ाने की बात पहले उठी थी, लेकिन जब सुना कि मास्टर लोग लड़कियों को बहकाकर भगा ले जाते हैं तो वह विचार एकदम छोड़ दिया गया। लक्ष्मी खूब रोई-पीटी, लेकिन इस राक्षस ने उसे भेजा ही नहीं। सुनते हैं, लड़की देखने-दिखाने लायक···"

बात काटकर मिस्त्री बोला, "अरे देखने-दिखाने लायक क्या, हमने

खुद देखी है। जिधर से निकल जाती, उधर बिजली-सी कौंध जाती। सौ में एक···।"

उसकी बात का विरोध न करके, अर्थात् स्वीकार करके, चौकीदार बोला, "स्कूल में भी, सुनते हैं, बड़ी तारीफ थी, लेकिन सबकी साले ने रेड़ कर दी। उसे यह विश्वास हो गया कि यह लड़की सचमुच लक्ष्मी है और जब यह दूसरे की हो जाएगी तो एकदम इसका भी सत्यानाश हो जाएगा। इसी डर से न तो किसीको आने-जाने देता है और न उसकी शादी करता है। उसकी हर बात पर पुलिस के सिपाही की तरह नज़र रखता है। उसकी हर बात मानता है। बुरी तरह उसकी इज्ज़त करता है; उसकी हर ज़िद पूरी करता है, लेकिन निकलने नहीं देता। लक्ष्मी सोलह की हुई, सत्रह की हुई, अठारह, उन्नीस···साल पर साल बीत गए। पहले तो वह सबसे लड़ती थी। बड़ी चिड़चिड़ी और ज़िद्दी हो गई थी। कभी-कभी सबको गाली देती और मार भी बैठती थी, फिर तो मालूम नहीं क्या हुआ कि घण्टों रात-रात-भर पड़ी ज़ोर-ज़ोर से रोती रहती, फिर धीरे-धीरे उसे दौरा पड़ने लगता···"

"अब क्या उम्र है ?" गोविन्द ने बीच में ही पूछा।

"उसकी ठीक उम्र तो किसीको भी पता नहीं, लेकिन अंदाज़ से पच्चीस-छब्बीस से कम क्या होगी !" घृणा से होंठ टेढ़े करके चौकीदार ने अपनी बात जारी रखी, "दौरा न पड़े तो बेचारी जवान लड़की क्या करे ? उधर पिछले पांच-छः साल से तो यह हाल है कि दौरे में घंटे दो घंटे वह बिलकुल पागल हो जाती है, उछलती-कूदती है, बुरी-बुरी गालियां देती है, बेमतलब रोती-हंसती है, चीज़ें उठा-उठाकर इधर-उधर फेंकती है, जो चीज़ सामने होती है उसे तोड़-फोड़ देती है। जो हाथ आता है उससे मार-पीट शुरू कर देती है, और सारे कपड़े उतार-कर फेंक देती है, बिलकुल नंगी हो जाती है और जांघें और छाती पीट-पीटकर बाप से कहती है—'ले, तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा,

मुझे बचा, मुझे भोग···!' यह पिटता है, गालियां खाता है और सब कुछ करता है, लेकिन पहरे में जरा ढील नहीं होने देता। चुपचाप सिर पर हाथ रखकर बैठा-बैठा सुनता रहता है। क्या जिन्दगी है बेचारी की! बाप है सो उसे भोग नहीं सकता और छोड़ तो सकता ही नहीं। मेरी तो उम्र नहीं रही, वरना कभी मन होता है, ले जाऊं भगाकर, जो होगा सो देखा जाएगा···।" और एक तीखी व्यथा से मुस्कराता हुआ चौकीदार देर तक आग को देखता रहा, फिर धीरे से होंठ चबाकर बोला, "इसकी तो बोटी-बोटी गरम लोहे से दागी जाए और फिर बाधकर गोली से उड़ा दिया जाए।"

गोविन्द का भी दिल भारी हो आया था। उसने देखा, बुड्ढे चौकीदार की गीली आंखों में सामने की बरोसी की धुधली आग की परछाईं झलमला रही है।

आधी रात को अपनी कोठरी में लेटे, लक्ष्मी के बारे में सोचते हुए मोमबत्ती की रोशनी में उसकी सारी बातों का एक-एक चित्र उसकी आंखों के आगे साकार हो आया और फिर उसने अधकार की प्राचीरों से घिरी, गरम-गरम आसू बहाती मोमबत्ती की धुधली रोशनी में रेखांकित पक्तियां पढ़ी :

"मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हू !"

"मुझे यहा से भगा ले चलो···।"

"मैं फांसी लगाकर मर जाऊगी···!"

गोविन्द के मन में अपने-आप एक सवाल उठा—'क्या मैं ही पहला आदमी हूं जो इस पुकार को सुनकर ऐसा व्याकुल हो उठा है, या औरों ने भी इस आवाज़ को सुना है और सुनकर अनसुना कर दिया है? और क्या सचमुच जवान लड़की की आवाज़ को सुनकर अनसुना किया जा सकता है?'

—'जहां लक्ष्मी कैद है' संग्रह से

खुले पंख : टूटे डैने

मीनल को एक अजब अभ्यास हो गया था। सुबह जैसे ही अखबार उसके हाथ में आता कि वह योंही बन्दआंखों उसे बीच से खोल डालती और सीधे 'व्यक्तिगत' कॉलम पर ही आंखें खोलती। "मनुष्य का बनाया दूसरा 'स्पुतनिक' 'लायका' को लेकर शून्य में उड़ रहा है।"—जिस दिन यह सूचना सारे मुखपृष्ठ पर छाई थी उस दिन भी उसने पन्ना बीच से ही खोला था। जब 'व्यक्तिगत' कॉलम को ऊपर से नीचे तक अच्छी तरह देख लिया तब निगाह कहीं और गई थी, मानो अखबार में वह हठपूर्वक उसी ओर, केवल उसी कॉलम को, देखना चाहती हो।

लेकिन आश्चर्य, यह भी वह जानती थी कि जो सूचना वह चाहती है वह उसे मिलेगी नहीं। बिना कहे-सुने हरीन्द्र चला गया था। बहुत खोजा। इधर-उधर, स्टेशन-थाने सभी जगह तो देखा था। फिर अखबार में निकलवाया—चुपचाप। वह अधपगला हरीन्द्र कभी सम्पादकीय के बगल में महीन-महीन छपनेवाली उन दो लाइनों को तो क्या, अखबार भी शायद ही पढ़ता हो—यह उसे विश्वास था। यार-दोस्त उसका कोई है नहीं जो उसे पढ़कर बता दे। पता नहीं कहां होगा बेचारा? फिर भी जान-बूझकर वह यह आशा बांधे रखती थी कि एक दिन इसी तरह सहसा अखबार खोलकर वह पाएगी कि उसमें हरीन्द्र की सूचना छपी है। तब सहसा अखबार योंही खुला पटककर वह खुशी से ताली बजा उठेगी। मगर आज चौथा दिन होने आ रहा था। जहां हर बार किवाड़ खड़कने से वह एक प्रत्याशित उत्कण्ठा से चौंक-चौंक उठती थी,

वहीं यह भी विश्वास उसके दिल में जमता जा रहा था कि हरीन्द्र नहीं आएगा···नहीं आएगा···लेकिन···

"मीनल दीदी, प्रोफेसर साहब के यहां से यह नौकर आया है।" अखबार एक ओर समेटकर उसने उठने के लिए चारपाई से पांव नीचे लटकाए ही थे कि दरवाजे पर पहुंचते विपिन ने कहा।

मीनल ने देखा, विपिन के पीछे ही सूटकेस उठाए मक्खन खड़ा था। अचानक मीनल का मन हुआ, चौंककर खड़ी हो जाए और बाहर भागकर देखे कि क्या कुन्तल भाभी और शोभन दा भी आए हैं। लेकिन उसने विपिन के कंधों के पार मक्खन को देखते हुए एक हाथ से तितर-बितर बाल कानों के पीछे किए और गंभीर स्वर में पूछा, "क्या है रे मक्खन ? यह क्या ले आया ?" हालांकि सूटकेस देखते ही उसने पहचान लिया था : यह उसीका सूटकेस था। फिर बात को साधारण बनाती बोली, "और भाग कहां गया था तू ? सारा घर परेशान था।"

"हम तो घर गए रहे दीदी ! यह प्रोफेसर साहब ने भेजा है।" सिर से उतारकर सूटकेस धरती पर खड़ा रखता हुआ मक्खन बोला, "कहा है : पार्लिज से लौटके बरात आएगे। कहीं जाए नहीं।"

"क्यों ?" मीनल की भौंहें सिकुड़कर माथे से जा मिलीं। सूटकेस भेजने का क्या अर्थ है, यह समझ गई। गहरी सांस लेकर उसने जोर से नाक से सांस छोड़ी, "हुः !" और निचला होंठ जोर से दांतों से दबा लिया।

अभी भी सामने खड़ा विपिन उसे बोझ लग रहा था। पाजामा, कमीज, स्वेटर पहने, बगलों में दोनों हाथ दबाए खड़ा, कभी मीनल और कभी मक्खन को भौचक-सा ताकता विपिन उसके मन में झल्लाहट पैदा कर रहा था। इसमें इतनी भी तमीज नहीं कि मेरे घर से नौकर आया है, शायद मैं कुछ पूछना चाहूं, कहना चाहूं, एक तरफ हट आए—

बेवकूफ की तरह छाती पर खड़ा है।

और सचमुच मक्खन को देखते ही उसके मन में ऐसा ज्वार उमड़ा कि वह भूल गई, वह शोभन दा के यहां से लड़कर अपने ही स्कूल की एक प्रौढ़ टीचर मिसेज़ वर्मा के यहां आकर रहने लगी है! मन हुआ, मक्खन से एक के बाद एक प्रश्न पूछती चली जाए, 'शोभन दा कैसे हैं? कुन्तल भाभी तो ठीक हैं? उनका जुकाम और गला अब ठीक है न? हरीन्द्र बाबू का कुछ पता चला? मेरा ज़िक्र तो नहीं आता?' यह जानने को वह बेहद उत्सुक थी कि उसके बाद घर कैसा है। वे लोग उसे किस रूप में 'मिस' कर रहे हैं। लेकिन उसने कुछ कहा नहीं और गम्भीर 'हूं' करके रह गई : तो उन लोगों ने सचमुच मुझे निकाल ही दिया।

"बीबीजी, कब चलेंगी घर?" मक्खन पूछ रहा था, "अब तो घर बड़ा सूना-सूना-सा रहता है। कोई नहीं आता। छोटी बीबीजी दिन-भर पलंग पर लेटी रहती हैं। और प्रोफेसर साहब रात को देर-देर तक बरामदे में टहलते रहते हैं। हम होते बीबीजी तो आपको कभी आने नहीं देते। हम खुद ही बीमार पड़ गए घर जाकर।"

उफ, कैसे रोके इन उमड़ते आंसुओं को? ज़ोर से होंठ दाबे, खिड़की से बाहर देखती अपनी पनीली पुतलियों पर जल्दी-जल्दी पलकें झप-काती रही। लेकिन एक गोला-सा था कि छाती से उमड़ा चला आ रहा था। दो-एक बार घूंट सटककर उसे पीने की भी कोशिश की। जाने कैसे बाहर देखते हुए उसने बड़े घुटे स्वर में कहा, "मक्खन, तू जा।"

मक्खन कुछ कहना चाह रहा था, लेकिन मीनल की स्थिति समझ-कर चुपचाप चला गया।

मीनल को ये पल कैसे पहाड़-से लगे। ये लोग सब चले जाएं तो वह रोए। भैया-भाभी ने सचमुच उसे इस तरह निकालकर फेंक दिया,

का अध्ययन-कक्ष भी थी। वह इतिहास में एम० ए० प्रीवियस कर रहा था। कुहरे-भरे ईंटोंवाले चौक के पक्के फर्श को पार करके सामने बैठक तक आते-आते उसका जोश आधा बुझ गया था, मानो तब नये सिरे से उसे याद आ गया कि नहीं, उसे घर नहीं जाना है। वह न जाने का निश्चय करके आई है।

वही अण्डी की चादर लपेटे शोभन दा मूढ़े पर सिर झुकाए बैठे अपराधी-से मानो उसकी राह देख रहे थे और मेज़ के पासवाली कुर्सी पर कम्बल लपेटे बैठा विपिन एक मोटी-सी खुली किताब के पन्नों को व्यर्थ घूर रहा था। शोभन दा उसीके कॉलिज में तो पढ़ाते हैं, इसलिए वह दो बार चाय के लिए पूछ चुका था, लेकिन उनका परेशान चेहरा देखकर चुप हो रहा।

"क्या है शोभन दा, इतनी रात को?" हल्की तलखी से मीनल ने पूछा था मानो कह रही हो, यहां भी मुझे चैन नहीं लेने दे रहे?

शोभन ने सिर ऊंचा किया। पता नहीं, जाड़े से बचने के लिए या चेहरे का भाव छिपाने के लिए, मीनल ने नाक तक चेहरा पल्ले से ढक रखा था। एक पल योंही देखते रहकर बड़े अनुरोध और भर्राए गले से, मानो शब्दों को बलात् ठेलकर कहते हों, वे बोले थे, "इधर आओ मीनल!"

और जाने क्या जादू था कि मीनल खिंची चली गई। आज तक शोभन दा के इस विचित्र, करुण, सानुरोध, विवश और टूटे हुए से स्वर की उपेक्षा वह नहीं कर पाई है। जाने उसकी आत्मा के कौन-से अंश को ये शब्द छू देते हैं कि उसका अपने पर वश नहीं रहता, उसकी आंखों में पानी भर आता है। उसे शोभन दा की इच्छा के आगे झुकना पड़ेगा, इसे वह जानती थी। उसने एक बार विपिन को देखा। साहस से बोली, "विपिन भैया, अगर बुरा न मानो तो हम लोग कुछ ज़रूरी बातें कर लें!"

कोई असुविधा होती है, तो मैं तुमसे कुछ नहीं कहूंगा। तुम्हारे
में उसका अगर यही इलाज हो तो यही करो, मुझे कतई आपत्ति
, लेकिन मैं तुमसे थोड़ी समझदारी की उम्मीद करता था मीनल।
जी होते या, या तुम शादीशुदा ही होतीं, तो मैं शायद आता भी
नहीं…।" शोभन दा का गला भर आया था और टूटकर वे फिर बोले
, "कुछ कहो, कुन्तल तुमसे छोटी है। तुम उसे डांटती-फटकारतीं और
ई कुछ भी बोलता तो मुझसे कुछ कहतीं या चाहे जो सोचतीं, लेकिन
ज़रा-सी बात पर यों घर छोड़कर…"

भीतर ही भीतर मीनल बेहद डर भी रही थी कि कहीं एकदम फूटकर
रो न पड़े; लेकिन जाने कहां की एक दृढ़ता उसमें आ समाई कि निस्पृह
भाव से उसने कह डाला, "नहीं शोभन दा, उस बेचारी को क्यों सानते
हो ? उसने ऐसी कोई बात नहीं कही। यह तो खुद मैं ही फील कर
रही थी काफी दिनों से कि आपकी दाम्पत्य-स्वतन्त्रता में मेरी उपस्थिति
अवांछनीय है !" बात का अन्तिम भाग उसने अंग्रेज़ी में कहा। फिर
उसने समझाया था, "सच मानो शोभन दा, मैं ज़रा भी नाराज़ नहीं
हूं। थोड़े दिन मुझे भी तो अलग रहकर देखने दो न ! न रहा जाएगा
तो तुम्हारे ही पास आऊंगी। अपना घर है, जाऊंगी कहां ?" अन्त की
ओर उसका गला भर ही आया था: सचमुच उसका अब घर ही कहां है
कोई !

फिर वाकई वह नहीं गई। बातचीत के दौरान में अपने को स
रही। एक भी आंसू नहीं आने दिया। जब शोभन दा को विदा क
बैठक के बाहरवाले किवाड़ बन्द करती हुई वह भीतर आई, तो म
रज़ाई में घुसा बैठा विपिन सहसा चुप हो गया। बात उसीके ब
हो रही होगी—वह जान गई। विस्तर की ओर बढ़ती, सफा
हुई सी नकली हंसी के साथ बोली, "अरे, बेकार अपने को
कर रहे हैं !" फिर किसीको पूछने का अवसर न देकर कहा, "

तुम्हें, भैया, मेरे आने से बड़ा विघ्न पड़ा।"

"विघ्न काहे का मीनल दीदी?" गौर से उसका चेहरा देखता विपिन बोला, "मैं तो यही कहता हूं, तुम यहीं रहो। अपना भी मन लगा रहेगा। कोई बोलने-बतलाने को भी तो नहीं है। ये मां है, सो चुप-चुप जाने क्या-क्या सोचा करती हैं।"

मिसेज़ वर्मा ने लेटे ही लेटे सिर उठाकर तकिये पर फैले खिचड़ी बालों का जूड़ा बांधकर हल्के-से हंसते हुए कहा, "मिस मेहता, भैया-भाभी से लड़ाई हो गई क्या? शादी-ब्याह की बात होगी? हम कहते हैं, कर-करा लो, कब तक रहोगी यों?"

"अरे नहीं वर्मा बहनजी, और बात है। बताऊंगी आपको फुरसत से। आज तो बहुत थक गई हूं।" अब तक उसने रजाई से अपना सारा शरीर ढक लिया था। मुंह ढकती हुई बोली, "और, कोई बात भी नहीं ऐसी।"

लेकिन दूसरे दिन जब स्कूल से लौटकर वह मिसेज वर्मा के साथ आई, तो उसे लगने लगा कि उसने जल्दबाज़ी कर दी। आज वह समझ ही नहीं पा रही थी कि कल सचमुच ऐसी क्या बात हो गई जो उसे यों घर छोड़ देना ही एकमात्र रास्ता दीखा? हरीन्द्र क्या सच ही उसके लिए इतना महत्त्वपूर्ण था? बहुत दिनों से वह मन ही मन अनुभव करती रही थी उसे ही विस्फोट के साथ बाहर प्रकट करने का माध्यम या निमित्त नहीं था हरीन्द्र? आज पढ़ाते हुए अन्यमनस्क भाव से कई बार अपने मन को टटोला तो पाया कि हरीन्द्र के प्रति तो उसके भीतर बस एक दया थी, दूसरों के प्रति आक्रोश अधिक था और कुछ नहीं। उसे हर समय लगता रहता कि कुन्तल शोभन दा के भीतर तक, बहुत भीतर तक छाए चली जा रही है। उनकी पसन्द-नापसन्द, अच्छाई-बुराई का मापदण्ड जैसे कुन्तल ही बने जा रही है। चिन्तित मुद्रा में यही बात उसने किन्हीं अपनत्व के क्षणों में ...

कह दी थी, "कुन्तल, तूने तो, सच, भैया पर जादू कर दिया !"

"एक बात कहूं मीनल दी, बुरा तो नहीं मानोगी ?" अपने लम्बे-लम्बे बालों को चौड़े कंघे से सूंतती कुन्तल ने हंसकर कहा, "तुम किसी पुरुष पर जादू नहीं कर सकीं, यह अतृप्ति ही तुमसे यह सब कहला रही है। मैं कहती हूं, कब तक इस इच्छा को दबाओगी ?"

मीनल वास्तव में इस तरह चौंक पड़ी थी, मानो अन्तर्तम का कोई गुप्त रहस्य सबके सामने अचानक खुल पड़ा हो। अरे, यह तो वह भी नहीं जानती थी ! उसे लगा, कुन्तल सच कहती है। आगे उसने एक शब्द भी नहीं कहा था। मन में एक सकुच भी जागी : उसका इस तरह सोचना-कहना अवांछनीय और अशोभन दोनों है।···तब ? तब क्या वह एक अतिरिक्त बोझ है ?

आज उसे बार-बार अपने पर झंझलाहट आ रही थी। ज़रा-सी बात पर यों लड़कर चले आने की ज़रूरत क्या थी ? बार-बार कुन्तल और शोभन दा का चेहरा आंखों के आगे उभर-उभरकर आने लगा था। मन ही मन वह आशा कर रही थी, आज शायद कुन्तल या शोभन दा या दोनों आएं। बार-बार वह खिड़की से झांक लेती थी। मन उखड़ रहा था। सन्ध्या को मिसेज़ वर्मा के साथ पास के पार्क में घूमने गई तो दूर से हर आदमी उसे शोभन लगता और हर लड़की कुन्तल, और उसका दिल धड़क उठता। उस दिन रात को लेटी तो रुलाई उमड़ पड़ी।

अगले दिन वह सोच रही थी कि ज़रूर शोभन दा या कुन्तल में से किसी एक की तबियत खराब हो गई है, वरना यह हो नहीं सकता था कि वे न आएं। कुन्तल मन की कितनी सरल है, यह वह जानती है। अगर कोई अपरिहार्य कारण न आ गया होता तो शायद उससे रहा नहीं जाता। क्यों न मैं ही स्कूल से लौटते हुए उधर से एक चक्कर लगा आऊं ? कोई लड़कर तो आई नहीं हूं। आखिर अपना घर है। लेकिन लाख मन पक्का करने पर भी उसके पांव नहीं उठे और वह मिसेज़ वर्मा के साथ

सीधी चली आई। कितनी चुप रहती हैं मिसेज़ वर्मा! कैसे रह पाती हैं? इनके साथ रहना हुआ तो उसका तो दम घुट जाएगा। उससे तो बिना बोले रहा ही नहीं जाता। बस, ले-देकर विपिन ही है। मां···?

दूसरे दिन भी वह मन को समझाती रही कि शोभन दा के यहां एक बार चले जाने में कोई हर्ज नहीं है। 'योंही घूमने चली आई, सोचा, देख आए कुन्तल भाभी क्या कर रही है?' मन ही मन रसोई के दरवाज़े पर खड़े होकर वह कुन्तल से बोली। अपने कुछ कपड़ों की भी तो ज़रूरत है। कब तक मिसेज़ वर्मा के कपड़ों से काम चलाएगी? हो सकता है, कोई खत ही आया हो? हरीन्द्र का ही खत हो!···हां ठीक, यह तर्क ठीक है। जब यह तर्क उसके दिमाग में आया तो उसे ऐसा ठोस आधार अपने पांव के नीचे महसूस हुआ कि बड़ी मुश्किल से उसी समय चल पड़ने की इच्छा को वह रोक पाई। क्या है, ऐसी लड़ाइयां तो होती ही रहती हैं! इनके लिए कहीं सम्बन्ध तोड़े जाते हैं?

और जब मानसिक रूप से वह बिलकुल चल पड़ने को तैयार हो चुकी थी, तब मक्खन सूटकेस ले आया। तो? तो, सचमुच उन लोगों ने नाता तोड़ लिया? वे इसी की राह देख रहे थे? कहां जाए वह अब?

* * *

योंही बांह आंखों पर रखे वह लेटी-लेटी अपनी स्थिति समझने की कोशिश करती रही। उसके सारे सम्बन्ध क्या सब ही ऐसे कच्चे धागों पर थे कि यों एक हल्के-से झटके में टूट गए? विश्वास नहीं होता: कम से कम, शोभन दा ऐसे निकल जाएंगे, यह कभी नहीं सोचा था। कहीं इस आघात से बीमार न पड़ गए हों? उनसे ज़्यादा मानसिक दबाव—स्ट्रेन—बर्दाश्त नहीं होता। लेकिन अब वह कहां जाए? क्या करे? रोहित? रोहित से मिलेगी कल। बहुत सहा, अब नहीं सहा जाता रोहित! बोलो, कब तक और प्रतीक्षा करूं? [illegible]

वर्ष तो राह देखी। लेकिन रोहित तो अब उसे पहचानता तक नहीं। अभी यह भी तो वह खुलकर नहीं कह पाई कि मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठी हूं, रोहित। दो-तीन पत्र आए थे; फिर पुलिस की ट्रेनिंग में आज यहां, कल वहां, भागता फिरा। लेकिन अब उसका निर्वाह होगा रोहित के साथ ? आखिर वह किस दीवार से अपना सिर दे मारे !

"मीनल दीदी, मीनल दीदी !" किसी बड़े झिझकते-से हाथ ने उसकी कुहनी छुई तो उसे सहसा याद आया, विपिन यहीं खड़ा है अभी। तो अभी यहीं बने हैं आप ?

"आप रो रही हैं मीनल दीदी !" फिर हिचकिचाती उंगलियों ने उसकी कुहनी हिलाई। स्वर में सहानुभूति थी। एकदम मीनल के मन में आया, उठकर दो झापड़ दे ज़ोर से—'क्यों मेरे पीछे पड़े हो ? अपना काम क्यों नहीं करते ?' उसने झटके से बांह हटाकर देखा : खाट की पाटी से टिका खड़ा विपिन बड़ी आहत-सी सहानुभूति के भाव से उसे देख रहा था। मीनल ने ज़ोर से दांत पीसे, जैसे उसे इस स्थिति में ला पटकने का सारा श्रेय विपिन को ही है।

"इस वक्त मुझसे मत बोलो विपिन।" उसने फिर आंखों पर बांह रख ली। बांह के नीचे से झांकते उसके नथुने और होंठ फड़कते रहे। अब वह अपना सारा गुस्सा इसपर उतार भी तो नहीं सकती : इन लोगों की वह आश्रिता है ! एक कड़वी मुस्कराहट उभरी।

हां, शहर के सबसे बड़े ऐडवोकेट की लड़की, जो कभी कॉलेज खुद ड्राइव करके जाती थी, अपनी याद में जो एक साड़ी को पहनकर दूसरे दिन बाहर नहीं निकली—वही मिस मृणाल मेहता आज पराये नगर में, पराये लोगों के बीच आश्रिता है···!

* * *

"अरे, रोहित राय को मार दिया !" सुनते ही वह एकदम चिहुंक-कर उठ पड़ी, "कहां ? हरीन्द्र की खबर देखते-देखते मक्खन के आने से

उसने अखबार पायताने पटक दिया था। विपिन खड़ा-खड़ा योंही उसे देख रहा था कि इस समाचार पर चौंक पड़ा। उसने अखबार उठा लिया था और पूरी खबर पढ़ रहा था।

"कहां ? देखूं ?" मीनल ने अखबार उसके हाथ से छीन लिया। हां, काले हाशिये में घिरी तस्वीर रोहित की ही तो है। वह जल्दी-जल्दी हर लाइन को निगलने लगी, "नदी के कछारों में कुख्यात डाकू चेतसिंह का पीछा करते हुए डी० एस० पी० रोहित राय मारे गए···" उसकी समझ में ही न आया कि जिन लाइनों को वह पढ़े जा रही है, उनका अर्थ क्या है!

"रो···हित !" उसके भीतर जैसे कोई धाड़ मारकर रो उठा। जैसे कोई धरती पर बिलख-बिलखकर रोता रहा, बिखर-बिखरकर रोता रहा। लेकिन मीनल स्वयं स्तब्ध और चुप बैठी रही। उसे लगा, जैसे उसे न कुछ सुनाई देता है, न दिखाई। छाती पर भारी बूट रखे जैसे कोई निर्दयतापूर्वक पानी की धार पर दबाए चला जा रहा है और उसकी सांस घुटी जा रही है। कहीं बहुत दूर उसके कानों के भीतर सैकड़ों चिमटे एकसाथ बज रहे हैं···अखबार उसके हाथ से फिसल पड़ा।

"मीनल दीदी, मीनल दीदी !" उसे बहुत दूर से आता विपिन का स्वर सुनाई दिया, "अरे अम्मा, दौड़ो ! देखो, मीनल दीदी को क्या हो गया !"

फिर उसे कुछ नहीं मालूम। बीच-बीच में उसे ऐसा लगता जैसे उसका सिर किसी की गोद में रखा है, उसकी पसलियों पर स्टेथस्कोप लगाया जा रहा है, दांतों को कोई चम्मच से खोलकर दवा पिला रहा है! कुछ टुकड़े शब्दों के भी कानों में गए—"ऐसे कहीं हारते होंगे बेटी ! देख, मुझे देख ! दस साल हो गए, वर्माजी की सूरत नहीं देखी है ! अपने पैरों पर खड़ी हुई। लड़के को पढ़ाया—तू तो इतनी हिम्मतवाली होकर···! यह घर तेरा ही है···यहां रह !"

जब उसने आंखें खोलीं तो दोपहर का समय था।...पास में स्टूल पर दवाएं रखी थीं और सामने कुर्सी पर विपिन बैठा कुछ पढ़ रहा था। मीनल बिना हिले-डुले चुपचाप देखती रही। बारह-एक बजा होगा। उसे धीरे-धीरे फिर याद आता रहा...! रोशनदान में जंगली कबूतर बैठा सिर मटका रहा था।

* * *

और मीनल को लगा जैसे वह दूसरी बार विधवा हो गई।

हरीन्द्र आया और चला गया। जब वह आया तो मानव-द्रोही था। लेकिन उसने रोहित के प्रति मीनल के मन में जो दबी-ढकी भावना थी, उसे मुखर शब्द दे दिए थे। मीनल जब रोहित को पुलिस की खाकी लक-दक वर्दी में देखती, उसे लगता : नहीं, यह वह रोहित तो नहीं है जो कभी उसके यहां आया करता था और शोभन दा के साथ हफ्तों कमरे में बन्द रहता था। भीतर अंधेरे कमरों में तेजाब की बदबू भरी रहती थी, और अपने तन-मन को न्योछावर करती वह हर समय आसपास मंडराया करती थी। कब किस चीज़ की ज़रूरत पड़ जाए! मन में एक बेचैनी थी कि कुलबुलाती रहती। आखिर वह किससे कहे, 'देखो किसी से कहना नहीं, हमारे शोभन दा और रोहित राय मिलकर बम बना रहे हैं। इससे बैंक लूटा जाएगा, इससे वाइसराय की ट्रेन उड़ेगी।' वह किसे बताए कि हमारे सोफे की स्प्रिंगों के भीतर तीन पिस्तौलें छिपी हैं। धधकती छाती से वह खिड़कियों की संधों से देखा करती : कहीं कोई खुफिया का आदमी तो इधर-उधर नहीं ताक-झांक कर रहा! हर गुज़-रते हुए आदमी को देखकर उसका दिल बैठ-सा जाता : कहीं यह भेद न ले रहा हो? रोहित साइक्लो मशीन चलाता और वह छपे हुए पर्चों को गड्डी बनाती, तब रोहित के कालिखलगे हाथों और पसीने की बूंदों से झलमलाते माथे को निहारकर उसका हृदय कैसा फूल उठता था! हर बार उसका हृदय पल्ले से उलझकर रुक जाता। उंगलियों की पोरों तक

इच्छा फड़ककर रह जाती कि उसके माथे और कनपटी को आंचल से पोंछ दे और बहुत हल्के-से अपने होंठ माथे से छुला दे। मन ही मन कहे: जाओ, तुम्हें अभय दे रही हूं। कोई तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा—यह मेरे प्यार का विश्वास है! लेकिन कर वह कुछ भी नहीं पाती थी, बस, कनपटियां भनभनाकर रह जातीं, और गर्दन नीचे झुक जाती। कनखियों से देखती और अपनी इस लुका-छिपी पर मुस्कराती! कितनी रोई थी चुपचाप मीनल जब रोहित पकड़ लिया गया था। निश्चय कर लिया: नहीं, वह विवाह नहीं करेगी! वह किसीसे कुछ नहीं बोली और चुपचाप अपनी पढ़ाई में लग गई।

बंटवारा हुआ, पिता की मृत्यु हुई। शोभन दा और कुन्तल के बीच में आँथेलो का सेतु आया, लेकिन वह जैसे एक अनन्त प्रतीक्षा में बैठी किसीकी राह देखती रही, देखती रही। उसे लगता था, वह आएगा, जरूर आएगा वह। लेकिन जो आया, वह उसका रोहित नहीं था—वह तो पुलिस अफसर, ए० एस० पी० रोहित राय था! बाहर और भीतर कहीं भी तो मीनल को 'अपना रोहित' नहीं मिला।

अब उसे लगा जैसे उसके भीतर कोई बल था जो टूट गया, कोई शिखर था जो ढह गया, कोई मूर्ति थी जो धरती फोड़कर समा गई। इस'''इस'''रोहित के लिए उसने अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ वर्षों को खोया था'''! इसके लिए प्रतीक्षारता युवती तपस्विनी बनी रही थी वह! तब उसने स्पष्ट मन की आंखों के आगे देखा, जैसे किसी कफन-ढंकी लाश पर उसने अपनी चूड़ियां फोड़ दी हों।

फिर धीरे-धीरे बलपूर्वक वह यह भूलने लगी कि उसने कभी किसीकी प्रतीक्षा की है, कोई उसकी मंजिल रहा है। वह तो बस, एक चिरन्तन पथिक है'''!

और आज वह बीमार लेटी थी। आंखों से आंसू उमड़े चले आ रहे थे। रोहित मर गया'''रोहित मर गया''' रोहित मर गया'''जैसे

खराब रेकार्ड की सुई बार-बार इसी लाइन पर घूम रही हो''' उसे पता था, इधर-उधर से आंसू बहकर कानों में भर रहे हैं। कानों में चुन-चुनाहट हो रही है, लेकिन वह लेटी रही।

जाने क्यों उसके अन्तर्मन में विश्वास था कि उसकी तपस्या कभी अधूरी नहीं जाएगी, उसके पास ऐसा कुछ है जो रोहित को, ठंडी शिलाओं के नीचे दबे रोहित को निकालकर जीवित कर लेगी। वह मंत्र पढ़ेगी और कफन फेंककर रोहित उठ खड़ा होगा, तब वह उससे लिपट जाएगी : देखा रोहित, कितने वर्ष मैंने तुम्हारी प्रतीक्षा में बिताए हैं कब से मैं तुम्हारी राह में बैठी हूं? मैं जानती थी, तुम कहीं नहीं जाओगे'''तुम आओगे'''क्योंकि तुम्हारे भीतर भी तो 'कोई' है जो अच्छी तरह जानता है कि कोई पार्वती, कोई अपर्णा तुम्हारी राह में बैठी है'''अपने को सावित्री मानकर जाने कितनी बार सपनों में उसने भैंसे पर बैठे यम से वाद-विवाद किया था। अपने रोहित को वापस बुला लिया था। लेकिन अब तो वह सब कुछ भी नहीं रहा।

डाकू चेतसिंह की गोली से रोहित मर गया! दूसरी बड़ी अस्पष्ट सी कुहासे पार चलनेवाली छाया का आखिरी सहारा भी टूट गया'' अब तक एक आसरा था, एक मानसिक बल था। किसीकी छाती पर सिर रखकर अपना अस्तित्व विसर्जित कर देने का सपना जाने कहां छूट गया है! कभी ऐसा कोई सपना था भी, अब याद नहीं है'''

चार-पांच दिन में मीनल चलने-फिरने लायक हो गई।

इस बीच दो बार कुन्तल आई, शोभन दा आए, गुप्ता आया और उसके स्कूल में साथ पढ़ानेवाली टीचरों और विद्यार्थिनियों का तो तांता ही लग गया। लेकिन वह किसीसे भी अधिक नहीं बोलती और आंखें खोले या बन्द किए चुपचाप लेटी रहती। कुन्तल ने उसके पांव छुए रो-रोकर माफी मांगी, "दीदी, क्यों यों जान देने पर तुली हो? चलो न!" कुन्तल को उसने छाती से लगा लिया और स्वयं रोती रही

"कुन्तल, पगली ! तुमसे मैं नाराज रहूँगी ?"

"ज़िन्दगी-भर को मेरे दिल में यह कील कसकती रहेगी, दीदी।"

"नहीं, कुन्तल, नहीं ! नहीं रहा जाएगा तो तेरे पास ही तो आऊंगी। और मुझे जगह कहां है ?"—वह नहीं गई। अपनी यह हठ उसे स्वयं चौंकाती थी।

अपनी एक चीज़ देख-देखकर उसे बड़ा सन्तोष होता था। पहले दिन जैसी एक असहाय कातरता उसने अपने भीतर महसूस की थी, धीरे-धीरे वह निरन्तर कम होती चली गई। अजब-सी दृढ़ता उसके भीतर आ गई। दृढ़ता उसे शायद कहना गलत है : उसके चिन्तन और अनुभूति दोनों की शक्तियां धीरे-धीरे कुछ इस तरह सुन्न होती चली गई कि उसे अपनी चेतना 'बुढ़िया के बालों' की मिठाई की तरह के विस्मृति-तन्तुओं से लिपटी लगने लगी।

उसके आगे अब कोई सपना नहीं था। उसकी अब कोई आकांक्षा नहीं थी। अब कोई अभिलाषा-मरीचिका उसे अपने आगे आगे दौड़ती नहीं लगती थी। सब जो कुछ हो रहा था, बड़ा अवास्तविक और नकली था। सिर्फ लगता था, सचमुच घटित थोड़े ही हो रहा था। (एक बार उसे ऐसा लगा जैसे उसकी निगाहें कमज़ोर होती जा रही हैं। जांचने से पहले डाक्टर ने 'एट्रोपीन' डाला, तब उसे दो-तीन दिन सब कुछ जैसा धुंधला-धुंधला दीखा था—बिलकुल वैसा ही अब दीखता था) वह जैसे कहीं बहुत दूर बैठी कुहरे और कुहासे के नीले नाइलोनी परदों के पार से हर चीज़ को होता हुआ देखती। उसे लोग घूमते-फिरते, हाथ-पांव, होंठ हिलाते लगते, लेकिन उनकी हर क्रिया के पीछे कोई भावना या संवेदना है—यह उसे लगता ही नहीं था। मानो सब कठपुतले थे।

अगर किसी कृतज्ञता और संकुच का वह अनुभव करती थी, तो दो के प्रति—एक मिसेज़ वर्मा और दूसरा विपिन।

"मिसेज़ वर्मा, आपको तो सच, मैंने वड़ी ही तकलीफ दी। जाने किस जनम की दुश्मन थी !" वह गद्‌गद होकर कहती।

"चुप ! वहुत वक-वक करोगी तो मैं अव मारूंगी। मेरी अपनी वेटी होती तो उसे क्या मैं वाहर डाल देती ?"—वे व्यस्त होकर अपने काम में लग जातीं।

तव अनायास मीनल की आंखों में आंसू भर आते। 'अपनों' और 'परायों' का अन्तर उभरकर सामने आता। आश्चर्य होता था उसे मिसेज़ वर्मा की जीवनी-शक्ति पर। कितनी फुर्ती है इनमें इस उम्र में···और सवसे वड़ी वात, इतनी चुप कैसे रह पाती हैं ? जाड़ों में सुवह पांच वजे उठ जाना, फिर नहा-धोकर, पूजा-पाठ करके खाना वनाना, स्कूल की तैयारी, सात साढ़े छः पर विपिन और उसे खुद चाय पिला देना, अपने और विपिन के कपड़ों की मरम्मत, इस्त्री। सभी कुछ चुप-चुप करती रहती हैं। उम्र पैंतालीस के आसपास होगी। वाल खिचड़ी हो गए हैं, रंग गोरा है, लेकिन अव झुर्रियां उभरने लगी हैं। दुहरा शरीर। सारा काम वे ऐसी स्वाभाविक निश्चिन्तता से करती हैं, मानो यही करने के लिए उनमें चावी भर दी गई हो। कभी इन्हें आराम करने की इच्छा नहीं हो। जव वे हाथ में चाय का कप लेकर मीनल को जगातीं, तो संकोच से वह गड़ जाती। उससे तो, सच वात है, सात साढ़े सात से पहले उठा नहीं जाता। मिसेज़ वर्मा ने मीनल को इस तरह स्वीकार कर लिया था, मानो वह युग-युग से उनके साथ रहती आई हो।

ठीक होने के वाद रसोई में उनके चूल्हे की आग को छिपटी से कुरेदते हुए निगाहें चुराती एक दिन मीनल वोली, "वर्मा वहनजी, अपना खाना मैं अलग वनाया करूंगी।"

"क्यों ?" उनका वेलन रोटी पर ही ठिठक गया। एक क्षण उन्होंने मीनल के चेहरे को देखा और पुनः वेलन चलाती हुई वोलीं, "अच्छी वात है।"

मीनल को विस्मय हुआ : वे इतनी जल्दी [illegible] यह
तर्क रखना चाहती थी कि "एक दिन [illegible]
तो यहीं रहना है।" लेकिन उन्होंने [illegible]
शाम को आवश्यक चीजें ले आई। [illegible]
चौका धुला-पुंछा मिला तो पूछा, "यह [illegible]"

"जो तुम मेरे जूठे चूल्हे पर [illegible]" [illegible] ने
बिना उसकी ओर देखे ही उत्तर दिया।

"चूल्हा भी जुदा होना है क्या ?" [illegible]
आया कि वह नागर ब्राह्मण है, और [illegible]
यह समझकर उन्होंने उसके [illegible]
बार तो उसके मन में आया कि वह [illegible]
वह यह सब नहीं मानती। लेकिन फिर [illegible]
जाएगी। उसने चुप रहना ही ठीक समझा। [illegible]
चलेगा ?

"अच्छा तो एक काम कीजिए। मैं अलग अंगीठी मंगा लेती हूं।"
मीनल को बड़ा आश्चर्य हुआ। अगर यही बात सच है तो इतने दिनों
यह इनके दिमाग में क्यों नहीं आई ? बिना नहाए वह चाय भी तो पीती
है, उनके साथ और भी तो चीजें खाती-पीती है !

और फिर मीनल की रसोई अलग पकने लगी''' शाम को कौन
झंझट करे, इसलिए वह परांवठे बनाकर रख देती। मिसेज़ वर्मा के
बगलवाला कमरा उसने ले लिया। दोनों कमरों के दरवाजों के सामने
बरामदा था, इसीमें एक ओर रसोई थी। फिर चौक। यादवेन्द्र तथा
विपिन के कमरे के बीच में बाहर जाने की गैलरी थी। आंगन में ही ऊपर
खुली छत पर जाने को सीढ़ियां थीं। सारा घर मीनल इस तरह बरतने
लगी, मानों बरसों से यहां रहती हो। सुबह स्कूल जाने की जल्दी रहती
थी, फिर भी तीनों साथ बैठकर खाते। "देखें मीनल दीदी, तुमने इस

बार क्या बनाया है ?" विपिन कहता और मां के मना करने पर भी मीनल के साथ खाने लगता। फिर सारा खाना इस तरह घुल-मिल जाता कि पता ही नहीं लगता कौन किसका है।

जान-बूझकर मीनल भूल गई कि उसके कभी कहीं कोई सम्पर्क रहे हैं। उसके एक शोभन दा हैं, जिनके साथ जीवन के उन्तीस-तीस वर्ष बिताए हैं उसने। जिन आदर्शों के लिए, जिस हरीन्द्र के लिए जिन लोगों को वह छोड़ आई थी वे सब उसे ऐसे लगते जैसे कभी कहीं पिछले किसी जन्म में उनसे चलता-सा परिचय हुआ था।

*   *   *

और दूसरा था विपिन···

"भाई मीनल दी, तुम्हारी यह बात हमें बिलकुल भी पसन्द नहीं है।" जिस दिन अपनी छोटी-सी 'गृहस्थी' का सामान लेने वह विपिन के साथ गई थी—उस दिन काफी देर चुपचाप चलने के बाद विपिन बोला था। जाने क्यों, उसका चेहरा तमतमा आया था और स्वर हक-लाने लगा था। जल्दी से उसने कहा, "एक तो वो हैं अम्मां, सो दिन-भर चुप रहती हैं। दूसरी आप जैसों में तैसी आ मिलीं। ले-देकर एक बहन मिली है, सो भी ऐसी चुप। आखिर हम क्या करें···?"

"आखिर क्या बोलूं ?" स्नेह से वह हंस आई थी। उसने मार्क किया था कि विपिन जब उसके साथ रहता है तो बहुत संकुचित, अव्य-वस्थित-सा तो रहता ही है, लेकिन शायद बहुत खुश रहता है। मन ही मन यह भी महसूस करती थी कि विपिन चाहता है कि किसी तरह उसके दुख को बंटाए, हल्का करे या कम से कम उधर से मीनल का ध्यान हटाए रखे। इसलिए उससे बुलवाना चाहता है। अपने खोल से निकलकर मीनल बाहर आए, विपिन की इस बेचैनी को मीनल जाने कैसे पढ़ने लगी है। बोली, "तुम बोलो तो मैं सुनूंगी···अच्छा बताओ, कॉलेज में तुमने क्या-क्या किया ?"

बात के अन्तिम सिरे पर आकर वह फिर सुस्त हो गई। जीभ की नोक पर आकर वाक्य रह गया, 'आज शोभन दा होते थे क्या? कुछ पूछते थे मेरे बारे में?' आखिर वे फिर आए क्यों नही।

"एक बात पूछूं दीदी?" विपिन ने पूछा, "शोभन दा क्या आपको बिलकुल भूल गए? एकाध बार सामने पड़े तो इस तरह ठिठक गए जैसे कुछ कहना चाहते हो, फिर एकदम सिर झटककर चल पड़े, होंठ सुजाते।"

"रोज मिल जाते हैं क्या?" मीनल सुनना चाहती थी कि वह कहे: शोभन दा बीमार हैं, बाहर गए हैं—इसलिए कॉलिज नही आते। उससे उसके टूटते विश्वास को कोई तो बल मिले।

"हाऽऽ।" विपिन ने सिर हिलाया। दोनों चुपचाप चलते रहे। फिर जैसे अपने-आप बोला, "मेरी बहन होती तो बीमारी में उठा लाता।"

व्यथा में भी मीनल मुस्कराई, "शादी के तीन साल बाद देखूंगी कहां-कहां से उठाके लाओगे मुझे।"

स्वर पर अस्वाभाविक बल देकर वह बोला, "देख लीजिए।"

सामने एक रेस्त्रां था। विपिन ने पूछा: "कुछ खाएंगी दीदी?"

"नही!" मीनल के स्वर में कुछ ऐसी सख्ती और तीखापन आ गया कि विपिन एकदम चुप हो गया। स्वयं मीनल को अनुताप हुआ, पर बोली कुछ नही।

इस बीमारी के दिनों में विपिन ने उसकी जितनी सेवा की है—शायद उसका आठवां हिस्सा भी उसने हरीन्द्र की सेवा नहीं की। डॉक्टर के यहां [illegible] दवा लाने से लेकर पानी पीने को देने, या उठने-बैठने में मदद करने तक ये सब कुछ उसने ही किया। "मेरे तो [illegible] इम्तहान है तो मम्मी, न उधर बैठा, इधर ही बैठकर पढ़ लिया करूंगा।" वह [illegible] वर्मा से कहता। रात को जब-जब उसकी आंख खुलती—[illegible] लैम्प के पास बैठा कोई किताब प

"कुछ चाहिए, दीदी ?" जाने कैसे वह जान लेता कि मीनल की आंख खुल गई है। क्यों बेचारा इतनी तकलीफ उठा रहा है वह ? मीनल की आंखों में आंसू आ जाते। एक अपने भाई-भावज हैं और एक ये पराये लोग !

"विपिन, तुम अब जाकर सो जाओ।" विगलित कष्ट से वह कहती।

"नहीं दीदी, ठीक है। इस किताब को खतम करके चला जाऊंगा।"

"मैं कहती हूं जाओ न, मुझे रोशनी में नींद नहीं आती।" उसकी वाणी में एक ऐसी अनजान उपेक्षा और तिताई आ जाती कि अपराधी की तरह विपिन चुपचाप चला जाता। तब मीनल अपने इस व्यवहार, अपनी प्रकृति को धिक्कारती—स्नेह के क्षणों में भी जरा-सा विरोध उससे क्यों नहीं सहा जाता ? क्यों भड़क उठती है वह यों जरा-सी बात पर···विपिन के प्रति कृतज्ञता और स्नेह से भीग-भीग आते हुए भी वह मानो हर क्षण उसे बताए रखना चाहती थी कि देखो, मैं तुमसे उम्र में सात-आठ वर्ष बड़ी हूं, सामाजिक और पारिवारिक स्थिति में ऊंची हूं···मुझसे बराबर के स्तर पर आकर मिलने की धृष्टता मत करो···जो मैं कहूं वही करते जाओ, बस।

विपिन को जाने क्यों वह कभी गम्भीरतापूर्वक नहीं ले पाई ! जाने क्यों, हमेशा उसे बच्चा समझती रही ! उसके गालों पर घने बाल उग आए थे और मूंछें कुछ अजब बेचारगी का भाव देती हुई होंठों के दोनों सिरों की ओर झुक आई थीं। अभी उसने ब्लेड यह सोचकर नहीं लगाया था कि जल्दी हजामत बनाने से बाल कड़े हो जाते हैं। उसकी चीनियों जैसी छितरी झुकी-झुकी मूंछें देखकर मीनल को बड़ी विरक्ति होती ! मन होता, रेजर लेकर खुद उसकी हजामत बना दे···! फिर अपने ऊपर झुंझलाहट भी आती : उसे क्या मतलब, कोई कैसे ही रहे ? हमेशा उसे विपिन बड़े शरीर का बच्चा जान पड़ता—जो चुप रहना सीख गया

हो। आश्चर्य होता, यह एम० ए० तक कैसे आ गया! अपने प्रति विपिन का रवैया देखकर उसे अजब-सी तिलमिलाहट छूटती, लेकिन फिर अपने को समझाती—इसके कोई बहन नहीं है। शायद बहन के लिए तभी इतना प्यार है। क्यों नहीं वह भी इसे अपना छोटा भाई मान लेती?

"विपिन, जाकर थोड़ा घूम आओ।" मिसेज वर्मा कभी-कभी ये शब्द कुछ ऐसे लहजे और अधिकार से कहतीं कि सहसा ही मीनल चौंक पड़ती। जैसे मीनल के आसपास विपिन का बहुत अधिक मंडराना उन्हें कतई पसन्द नहीं है···लेकिन उसके बाहर जाते ही जब वे मीनल से कहतीं, "सचमुच इसे तो बड़ी बहन मिल गई है।" और फिर चुप होकर अपने स्वाभाविक ढंग से मुस्करातीं तो मीनल को वह सहसा और वह ध्वनि अपना ही भ्रम लगता।

"देखो, कितने बड़े घर की लड़की है! बाप शहर का सबसे बड़ा वकील था, भैया प्रोफेसर हैं··· पर भैया, कौन किसका है आजकल!" मीनल ने सुना, मिसेज वर्मा महरी से कह रही थीं, "पर लड़की सोना है; घमण्ड तो छू नहीं गया। सारा काम अपने हाथ से करती है।"

अगले दिन से सचमुच वह अपना सारा काम खूब जोश से करने लगी।

* * *

कपड़ों में साबुन लगाकर रखा ही था कि तौलिया लटकाए गुसलखाने के दरवाज़े पर विपिन आ गया, "अरे दीदी, जाड़े में मरोगी क्या? अभी तो तबियत खराब होकर चुकी है।"

"ठीक है। हैं ही कितने···!" मीनल थकी-सी मुस्कराई और मोगरी से कपड़े और भी ज़ोर-ज़ोर से कूटने लगी।

"अरे, हटो न। मैं कूटे देता हूं।" उसने कुछ डरी हुई निगाहों से चौके की ओर एक बार देखकर कहा। मीनल घूमते हुए बोला, "हटो,

हटो···" और उसने मीनल की दोनों कुहनियों के पास से बांहें पकड़कर कुछ ऐसे अजब ढंग से उसे उठाया कि मीनल ने ज़ोर से कुहनी झटक दी, "छोड़ो।" और वह जल्दी से बाहर निकल आई। विपिन ठगा-सा खड़ा रह गया।

फिर कपड़े फटकारकर अलगनी पर सुखाते हुए वह अपने को कोसती रही···क्यों इतनी जल्दी भड़क उठती है वह? ऐसी क्या अनोखी बात उसने कर दी? बीमारी में दसों बार सहारा देकर उसने नहीं उठाया-बैठाया? सचमुच वह बदलती परिस्थिति के साथ अपने को बदल नहीं पा रही है; लेकिन बदलना तो है ही।

* * *

अचानक मीनल की आंख खुल गई। उसे ऐसा लगा जैसे कोई काली छाया-सी उसपर झुकी है···झपटकर रजाई फेंकती एकदम सीधी बैठ गई। कड़ककर भिंचे गले से पूछा, "कौन?"

"मीनल दीदी, मैं हूं," बड़ी सहमी-सी आवाज़ आई, "मैं यहां अपना पेन तो रात को नहीं छोड़ गया?"

हाथ बढ़ाकर मीनल ने टेबल-लैम्प जला दिया और रजाई शरीर पर ले ली, "जाओ, इस वक्त यहां कोई पेन-वेन नहीं है। जाओ सीधे, नहीं तो मैं शोर मचाती हूं।"

मिसेज़ वर्मा लड़कियों की एक पार्टी को ऐतिहासिक स्थान दिखाने के लिए दो दिन को बाहर चली गई थी।

इसके बाद मीनल से लेटे रहना मुश्किल हो गया। रोशनी उसने नहीं बुझाई, लेकिन जब नहीं रह गया तो वह सीधी आंगन पार करती विपिन के कमरे के सामने आ खड़ी हुई। भीतर यहां भी रोशनी थी। एक क्षण ठिठकी, फिर धीरे से किवाड़ खोले। विपिन मेज़ पर सिर रखे कुर्सी पर बैठा था। मेज़ पर किताबें बिखरी थीं। उसने किवाड़ पूरे खोल लिए और सीधी विपिन की खाट पर जा बैठी।

"विपिन !" दोनों कुहनियां मेज़ पर रखकर उसने कड़े स्वर में कहा।

विपिन ने सिर नहीं उठाया। रुंधे गले से कहा, "जी !"

"विपिन, सिर उठाकर इधर देखो मेरी तरफ।" अंततः अपनत्व-भरे स्वर में उसने फिर कहा, "विपिन !"

विपिन ने सिर उठाया। उसकी आंखें लाल और मसली हुई थीं—पलकें उठ नहीं रही थीं।

"मेरी ओर देखो।" मीनल बोली, "तुमने मुझे अपनी बड़ी बहन कहा है। कहो, कहा है न ?"

विपिन ने सिर हिलाया। पलकें अब नहीं उठीं। मूछों के रोए कुछ और झुक आए थे।

"फिर ?" मीनल का स्वर भीग आया, "यह सब क्या बचपना है, विपिन ?"

"......"

"बोलो ? मिसेज़ वर्मा जानें तो तुम्हारी और मेरी क्या स्थिति हो ?" स्निग्ध स्वर में कहा, "तुम चाहते हो, मैं यहां से चली जाऊं ? बोलो ?"

विपिन ने सिर हिलाया—नहीं। उसकी आंखों में

के ऊपर की खाल पर करुण सलवटें उभर आईं।

"तो यह सब मत करो भैया। देखो, तुम मेरे छोटे भाई हो। तुम्हीं यह सब करोगे, इसकी तो मैंने कभी उम्मीद भी नहीं की थी···" उठकर चलते हुए मीनल ने प्यार से विपिन के सिर पर हाथ फेरकर कहा, "चलो अब, सोओ। आगे से यह सब मत करना···"

और स्विच ऑफ करती हुई वह चली आई। विपिन मेज़ पर सिसक पड़ा।

अगले दिन सुबह से ही विपिन का पता नहीं था। पहली बार तो मीनल को आशंका हुई, कहीं चला न गया हो। क्या जवाब देगी वह मिसेज वर्मा को? उसके कमरे में जाकर देखा। सब चीज़ें ज्यों की त्यों थीं। उसका दिल धक्-से रह गया।

लेकिन उसके स्कूल जाने से कुछ ही देर पहले चोर की तरह चुपचाप विपिन आया और गुसलखाने में घुस गया। चलते-चलते अत्यन्त स्वाभाविक स्वर में उसने कहा, "ये किवाड़ बन्द कर लेना विपिन। तुम्हारा खाना ढका रखा है।"

स्कूल में दिन-भर उसका मन नहीं लगा। और जाने कैसी बेचैनी-सी भीतर ही भीतर कचोटती रही। जैसे-जैसे सन्ध्या आती जाती, उसका दिल धसकता जाता। बार-बार इच्छा होती कि लौटकर जाए ही नहीं—लेकिन फिर कहां जाए? मिस टण्डन को साथ ले ले?

सन्ध्या को भी उसके आते ही विपिन चल दिया। चारों तरफ बड़ा बोझ, बड़ी घुटन थी; उसने व्यर्थ ही महरी को रोके रखा—उससे दुनिया-भर की बातें पूछती रही—उसके घर की, परिवार की। जब वह चली गई तो रात को उस अकेले घर में खाना बनाते हुए उसे ऐसा लगता रहा जैसे जाने किस अनजान सागर के अकेले द्वीप पर यह घर बसा है—जिसके चारों ओर सन्नाटा है! किनारों पर लहरें आकर टूटती हैं और छहर उठती हैं! जाने कितने युगों से वह यहां अकेली रहती

भाई है ! तब एक प्रश्न बार-बार उसके मन में उठा, आखिर वह किस लिए जिन्दा है ? किसके लिए ?…मन में आया, क्या करेगी खाना बनाकर ?

काफी देर बाद विपिन आया। वह प्रतीक्षा कर रही थी। किवाड़ खोलते हुए मीनल बोली, "बड़ी देर कर दी। मैंने तुम्हारे लिए अभी तक खाना भी नहीं खाया।"

"मुझे भूख नहीं है मीनल दीदी।" उसकी ओर देखे बिना ही विपिन ने कहा।

"तो मुझसे कहा क्यों नहीं ? मैं अपने लिए ही क्यों बनाती ? थोड़ा तो खा लो।

"नहीं दीदी, मुझे भूख नहीं है।" आजिज़ी से वह बोला।

"ठीक है, तो मैं ही अकेली खाकर क्या करूंगी ?" वह बाहर चल दी। फिर पलटकर साधिकार पास जाकर कहा, "नाराज हो मुझसे न ? यों बड़ी बहनों से कहीं नाराज हुआ जाता है ? आओ, चलो।" और प्यार से कन्धे पर हाथ रखकर वह उसे ले आई।

चौका धुला था। गीले पत्थरों पर विपिन के तलुए ठण्ड से सिकुड़ उठे। मीनल ने पटरा दिया तो चुपचाप बैठा देखता रहा।

खाना परोसकर खुद कौर मुंह में रखती हुई मीनल बोली, "खाओ, या यह भी मैं ही हाथ से खिलाऊं नन्हे मुन्ने की तरह ?"

निहायत अनिच्छा से विपिन ने कौर तोड़ा।

"दिन-भर कहां रहे ? कॉलेज तो गए नहीं [illegible]

विपिन कुछ नहीं बोला—चुपचाप [illegible]

"ठीक से खाओ न, मिसेज वर्मा कहेंगी, [illegible] रखा !"

पहली बार विपिन के मनहूस चेहरे पर [illegible]
[illegible]।

रात को काफी करवटें बदलने पर भी मीनल को नींद नहीं आई। सुबह का प्रश्न अभी भी दिमाग में रेंग रहा था, 'आखिर वह किसके लिए, क्यों ज़िन्दा है ?' जाने क्यों उसे विपिन पर क्रोध नहीं आ पा रहा था : वह रात का एकान्त, अकेले होने का अहसास, अनुरोधपूर्वक विपिन को खिलाना...यह सब उसे किसी भूले हुए सपने की जागती स्मृति-से लग रहे थे। जैसे बहुत पहले भी कहीं ऐसा ही कुछ हुआ था जो इस समय याद आ रहा था। एक बार पानी पीने उठी तो बाहर आंगन में चटक चांदनी खिली थी। निगाहें विपिन के कमरे की ओर उठ गईं। बत्ती जली थी। मन हुआ, देखे, कहीं जलती छोड़कर सो तो नहीं गया। शायद उघड़ा पड़ा हो, ठीक से उढ़ा दे। उसका मन हो रहा था किसीसे बातें करे। कोई करुण संगीत सुने। आज दिन-भर किसी-से भी तो नहीं बोली। बड़ी विचित्र इच्छा जागी कि कल भी मिसेज़ वर्मा न आएं और वह इसी तरह अनुरोध करती हुई विपिन को खिलाए।

जाने किस जादू के सम्मोहन में वह शॉल कन्धों पर डालकर बाहर निकली और सीढ़ियां चढ़ती हुई ऊपर चली आई। चांदनी की चटक़ कुहरे में मिलकर बड़ी रहस्यमयी हो गई थी। सूनी छत पर एक ओर एक बिना बुनी खटिया का चौखटा पड़ा था—नीचे उसकी परछाईं थी...छाती के बराबर ऊंची मुंडेरों की छाया ने आधी छत पर अंधेरा कर दिया। मीनल को याद आया, ऐसी ही चांदनी रातों में तो छत पर वे लोग मछली-मछली खेला करते थे—'बोल मेरी मछली कित्ता पानी...' दूसरी लड़की कमर पर हाथ रखकर कहती, 'इत्ता पानी...' कुहरे के साथ ओस गिर रही थी। मुंडेर के सहारे खड़े होकर उसने ठण्डी दीवार पर कनपटी टिका दी। सामने छतों का सुन-सान विस्तर था। कहीं किसी कमरे की खिड़की चमक रही थी। सब सुख से सो रहे होंगे ! गली छाया और प्रकाश में बंटी हुई थी। दूर

चौराहे पर चौकीदार ग्रेट कोट में ऊपर से नीचे तक ढका घोंसला-सा बनाकर बीड़ी जला रहा था। बिजली के तारों पर चांदनी चिलक रही थी। शुक्लपक्ष में म्युनिसिपैलिटी की बत्तियां नहीं जलतीं। आसमान कुहरे में खो गया था। ऐसी ही रातों में तो उनके बेले और रजनीगन्धा की दूधिया क्यारियां गमगमाया करती थीं। लॉन पर पांव कैसे भीग जाते थे! मीनल को जैसे सचमुच कहीं से रजनीगन्धा की खुशबू आती लगी। अभी पिछले महीने ही तो सब ऐसी रात में पिकनिक पर गए थे। रोहित, शोभन दा, कुन्तल भाभी और गुप्ता। गुप्ता ने कैम्प फायर किया था। कुन्तल भाभी का हाथ देखता रहा था। हुंह! इतनी बार हाथ देखा, बताया कभी कि एक महीने के भीतर ही मेरी तकदीर क्या से क्या हो जाएगी। मीनल की आंखों से आंसू ढुलक आए। बूंद-बूंद दीवार पर टपकने लगी। जाने क्यों गुप्ता की बड़ी याद आ रही थी। इस वक्त होता तो कुछ बातें करती। उसे बोलने का मर्ज है। उसकी आंखों में उसने कुछ ऐसा देखा है जिसे उसने चाहा भी है और कभी रोहित की ओर देखकर झुठलाया भी है। और रोहित···?

"मीनल दीदी···!" फिर वही घुटा-सा स्वर मीनल ने सुना। मुड़कर देखा, उसके पास ही मुंडेर के सहारे विपिन खड़ा था।

मानो मन के भीतरी स्तरों में वह इसका इन्तजार ही कर रही थी। उसे स्वयं आश्चर्य हुआ कि इस स्वर को सुनकर वह चौंकी क्यों नहीं? उसने कुछ नहीं कहा।

"मीनल दीदी, मुझे माफ नहीं करोगी मीनल दीदी···?" कई बार थूक निगलकर विपिन ने कठिनाई से कहा और मीनल के बिलकुल निकट आ गया। अपना मुंह उसने मीनल की ओर बढ़ा दिया, "लो, मुझे मारो मीनल दीदी।"

विपिन ने कनपटियों से उसके हाथ धीरे से हटाकर मुंडेर पर बांहें फैला लीं। अपनी हथेलियों को देखता हुआ बोला, "पता नहीं मीनल दीदी, मुझे क्या हो गया है! न नींद आती है, न किसी काम में मन लगता है। दिमाग की नसें ऐसी तनी रहती हैं जैसे अब तड़कीं—अब तड़कीं, हमेशा सिर में पहिया-सा घूमता रहता है। तुम बताओ, मैं क्या करूं मीनल दीदी?" उसने बड़ी याचना-भरी निगाहों से गर्दन मोड़कर मीनल को देखा, "हमेशा तुम आंखों के सामने रहती हो।"

"ठीक है, अब तो ठीक हो गया न? बस!" मीनल को सच ही सामने खड़े अबोध युवक पर बड़ी दया आई। एक बार मन हुआ, जोर से उसे छाती से चिपका ले···। उसके माथे और बालों पर हाथ फेरकर उसने कहा, "तुम मुझे बहुत प्यार करते हो न? तुम्हारे मन को मैं जानती हूं। लेकिन यह सब मत करो।"

"नहीं मीनल दीदी! तुम अम्मां से कह दो, खुद मारो मुझे, पर मुझे बताओ मैं क्या करूं? मुझसे अब नहीं सहा जाता।"—विपिन सच ही ऐसी कातर असहाय मुद्रा में यह सब कह रहा था कि मीनल पिघल उठी। उसके हर शब्द में मरोड़े खाता हृदय बोलता था। उस क्षण मीनल के मन में आया, इसे मुक्ति देने के लिए वह क्या न दे डाले।

और जब सहसा दोनों बांहों में भरकर विपिन ने मीनल की कनपटी पर जलते होंठ रख दिए तो उसने ज़रा भी विरोध नहीं किया। वह शान्त और निर्विकार खड़ी रही। एक अद्भुत वत्सल स्निग्धता उसके चेहरे पर छा गई। विपिन के माथे पर पसीने की बूंदें झलमला आई थीं। उन्हें पल्ले से पोंछते हुए उसे लगा जैसे कभी कहीं बहुत पहले उसने किसी और का भी पसीना पोंछा था या शायद पसीना पोंछने की अभिलाषा को पाला था। निरुद्विग्न स्वर से कहा, "बस, अब चलो, चलकर सो जाओ।" फिर उसके कन्धे पर हाथ रखकर वह उसे इस तरह नीचे उतार लाई थी जैसे वर्षों के बीमार को ला रही हो।

उसके कमरे के दरवाजे पर खड़े होकर प्यार से उसे भीतर धक्का देती हुई बोली, "अब दिमाग शान्त कर लो। पढ़ो-लिखो। इन बातों में वक्त मत गवाओ। अच्छा, अब सुबह मिलेंगे।" वह जाने लगी।

विपिन ने उसकी उंगलियों की पोरें खींचते हुए प्रार्थना से कहा, "मीनल दीदी!"

"नहीं!" मीनल के स्वर में पुरानी कड़क आ गई।

"मीन···"

"मैं कहती हूं, नहीं···नहीं···।"

वह हाथ छुड़ाकर चली आई। लेकिन अपने कमरे के दरवाजे पर जाकर फिर लौट आई। विपिन मानो असमंजस में सिर झुकाए चौखट पर ही खड़ा था।

"सोए नहीं, चलो।" कंधे पर फिर हाथ रखकर जब वह विपिन को बिस्तर तक लाई, तो वह आज्ञाकारी बच्चे की तरह चला आया। चुपचाप लेट गया। उसे रजाई उढ़ाकर जब वह चलने लगी तो फिर प्रार्थना में विपिन ने डरते-डरते कहा, "दीदी, थोड़ी देर बैठो।"

आशा के विपरीत मीनल निस्संकोच उसकी चारपाई पर बैठ गई, "बोलो, क्या चाहते हो आखिर?"

करवट लेकर विपिन ने अपना सिर मीनल की गोद में गड़ा दिया, "दीदी, मैं क्या करूं बताओ? तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो।"

मीनल उसके सिर को धीरे-धीरे थपकती रही, "विपिन! सच तुम्हें क्या पागलपन सवार हो गया है विपिन! तुम बिलकुल नहीं देखते, मैं तुमसे कितनी बड़ी हूं! तुम मुझसे आठ साल छोटे हो। यह सब करने की कैसे तुम्हारी हिम्मत होती है?"

"कसम से कहता हूं दीदी, जाने मुझे क्या हो गया है? मैं तुम्हारे बिना नहीं रहूंगा।"

मीनल के गालों पर आंसू रेंगते रहे। कुछ देर चुप रहकर मीनल

उसके बाल पकड़कर सिर घुमाती हुई बोली, "अच्छा, इधर देखो मेरी ओर। देखो।" मीनल ने देखा, विपिन की पलकें नहीं उठ रही थीं। बड़ी दर्दीली मुस्कराहट से कहा, "मुझसे शादी करोगे ?"

विपिन कुछ नहीं बोला। मीनल प्रतीक्षा करती रही।

"बस ? इतना ही जोश है न ? सिर्फ खिलवाड़ करना चाहते हो ?" निस्तेज कड़वाहट से वह बोली, "या अपने घर रखने का बदला चाहते हो ?"

"दीदी···!" विपिन बोला। उसका स्वर कराह उठा, मानो कहना चाहता हो, ऐसा न कहो।

"अब भी दीदी ही कहे जाओगे ?"

"करूंगा, मैं तुमसे शादी करूंगा!" विपिन ने कहा तो मीनल बड़प्पन से मुस्कराई : बच्चा···!

"रहेंगे कहां हम लोग ? यहां तो अम्मां रहने नहीं देंगी।" इस विकट स्थिति में भी मीनल का तलख विनोद जागा।

"अम्मां को रखना होगा···मैं अलग रह लूंगा···हम दूसरे शहर में चले जाएंगे···"

"दूसरे शहर में कहां ? मेरे पास तो कुछ है नहीं। तुम्हारे पास है कुछ ?"

"मैं चुरा लूंगा अम्मां के रुपये! नौकरी कर लूंगा।"

"नौकरी···!" अविश्वास से मीनल हंसी : कैसे खिलौने जैसा बोले चला जा रहा है, "अच्छा, मैं तो बहुत बड़ी हूं न तुमसे···? लोग कहेंगे···"

"जाने दो लोगों को भाड़ में। शेक्सपियर की पत्नी भी तो उससे सात साल बड़ी थी···।" 'शेक्सपियर!' मीनल रात के सन्नाटे का खयाल न करके सचमुच खिलखिलाकर हंस पड़ी। बड़ी विचित्र-सी बात उसके मन में आई। अगर मैं इस समय इससे मिसेज़ वर्मा का

सिर काट लाने को कहूं तो शायद एक मिनट की भी देर न करे। किस तरह इसने अपने-आपको मेरे हाथों में छोड़ दिया है! जो मैं चाहती हूं वह बोलता है।

तब जाने कैसा एक आवेग उसकी छाती में उठा कि ज़ोर से उसका सिर अपनी बांहों में भीच लिया, फिर उसके माथे को चूमकर कहा, "बुद्धू!"

* * *

सुबह वह काफी देर से उठी। पता नहीं कब विपिन ने दूधवाले से दूध ले लिया था। लेटे-लेटे छत की ओर ताकती दुनिया-भर की बातें सोचती रही। उठने को मन नहीं कर रहा था। लेकिन दस-ग्यारह के करीब मिसेज़ वर्मा आएंगी—क्या सोचेंगी घर देखकर? दो दिन को चली गई तो घूरा कर दिया। ग्लानि से मीनल का तन और मन भरा था। किससे कहे, जो उसके मन में घुमड़-घुट रहा है—कोई सुने तो उलटा उसे ही तो गालियां देगा—'वो तो बच्चा था, पर तेरी अक्ल पर क्या पत्थर पड़ गए थे?'

घर का काम करती जाती थी और एक-एक टुकड़ा बात उसके सामने आती-जाती थी—कभी आगे की बात, कभी पीछे की बात—जाने क्यों झाड़ू लगाते हुए बार-बार कलेजा उमड़ा आ रहा था।

बड़े शीशे के सामने बाल सवारते समय टूटे बालों का मोटा-सा गुच्छा कंघे से निकालकर उसने देखा : अरे, बाल कितने छोटे रह गए थे! जूड़ा भी बनाए तो मुट्ठी-भर का बनेगा—चोटी का तो सवाल ही नहीं उठता। गालों की निकली हड्डियां और आंखों के नीचे के गड्ढे उसे अब और भी बड़े होकर दीख रहे थे। उसने देखा - हसली, गले की और हथेली के पीछे उंगलियों की नसें पतली-पतली रस्सियों की तरह उभर आई थीं—हंसली की हड्डी तो इतनी उभरी हुई है कि उसमें से गर्दन कछुए की गर्दन की तरह लगती है। उसने ठोड़ी ऊपर उठाई, टेटुआ कैसा

मेंढक-सा बाहर निकल आता है ! सच, कितना भद्दा लगता है ! वाक्य गूंजा, 'मीनल दीदी ! तुम मेरे मन और आंखों पर छाई रहती हो।' और एक अजब खिसियानी-सी हंसी उसके होंठों के कोनों पर उभर आई है'''हाथ सूखी पतली लकड़ियों-से रह गए। अरे, वह तो वाकई बुढ़िया हो गई !

कम्बख्त हर बात पर आंखें छलछला आती हैं। कैसी अजब स्थिति है ! मरीचिकाओं के पीछे भागते-भागते उसने कभी ध्यान नहीं दिया कि वह स्वयं क्या रही जा रही है। शरीर ! शरीर भी कुछ मांगता है, इस बात को अर्से से वह भूल गई है। ब्लाउज़ बांहों पर कैसा झूल आया है !

लेकिन'''लेकिन वह आखिर वह क्या कर रही है ? रह-रहकर एक-ऐसा धिक्कार मन में उठ रहा था कि वह खुद अपने-आपसे डर रही थी—कहीं दृढ़ कदमों से सीधे चौके में जाकर वह भड़ाक से किवाड़ न बन्द कर ले और शरीर पर मिट्टी के तेल की बोतल औंधाकर'''ढाल पर लुढ़कते हुए, हर तिनके को मुट्ठी में पकड़ने से पहले, तिनके की सामर्थ्य भी तो उसे देखनी चाहिए न'''फिर एक नई मरीचिका'''आखिर इस सबका अन्त क्या है ?

मीनल को लगा, सचमुच वह बुढ़िया हो गई है। जाने किस अनादि काल से जीवित रहती आई है और कब तक बनी रहेगी। एक ऐसी अशरीरी चेतना जो सब देखती, अनुभव करती और सोचती है। अभी कल ही तो छोटे-छोटे 'लिलीपुटियन' उस फुट-भर के मैदान में लड़ रहे थे। एक ने अपना नाम अर्जुन रख लिया था, दूसरे ने दुर्योधन ! अपने इस खिलवाड़ को नाम दे दिया 'महाभारत' ! उसने खुद सब अपनी आंखों से देखा'''कितनी एकाकी'''कैसी असहाय वह जीती चली आई है !

कंघा जब हाथ से छूटकर 'खट्' से धरती पर गिर पड़ा, तो उसे

होश आया—सामने अब भी बुढ़िया मौजूद खड़ी थी। 'ऐ बुढ़िया, हटो एक तरफ!' सड़क पर आवाज बुढ़िया के रूप में उसे अपनी तस्वीर दिखाई दी···उफ देखो न, लोगों ने उसे कितनी जल्दी बुढ़िया बना दिया···अभी उसने कुछ भी तो नहीं जिया···कुछ भी तो नहीं देखा ज़िन्दगी में···उसके सारे सपनों को घोंटकर मार दिया सम्बन्धों ने। आज न उसका कोई भाई है, न भाभी···दूसरों के टुकड़ों पर पड़ी···हाय, अकेली भी तो नहीं रह सकती! पुरुष होती तो···हाय, एक क्षण भी तो ऐसा नहीं, जिसे सचमुच उसने जिया हो और अकेले क्षणों में जो चेतना पर मंडराता रहे।

कंघा एक तरफ फेंककर वह चारपाई पर जा पड़ी औंधी···रोएं-रोएं में उबल-उबलकर आंसू उसके शरीर का बांध तोड़कर फूट पड़ना चाहते थे! अब इस स्थिति पर पहुंचकर दुबारा जीवन भी तो शुरू नहीं कर सकती! आखिर किस बूते, किस सम्बल पर वह ज़िन्दगी की राहों में कमर कसकर चल पड़े? रूप···? धन···? निष्ठा···? प्रतिष्ठा···? प्यार···? और···और चरित्र···?

—'अभिमन्यु की आत्महत्या' संग्रह से

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

"[illegible]"

मन्नू भण्डारी

•

क्षय
तीन निगाहों की एक तस्वीर
अकेली

कहानी-संग्रह

मैं हार गई
तीन निगाहों की एक तस्वीर

क्षय

सावित्री के यहां से लौटी, तो कुन्ती योंही बहुत थकी हुई महसूस कर रही थी। उसपर से टुन्नी के पत्र ने उसके मन को और भी बुरी तरह मथ दिया। पापा को भी दो बार खांसी का दौरा उठ चुका था। वह जानती थी कि वे बोलेंगे कुछ नहीं, पर उनका मन कर रहा होगा कि टुन्नी को वापस बुला लें। रात में लेटी तो फिर उसी पत्र को खोल-कर पढ़ने लगी :

"दीदी, मेरा मन यहां ज़रा भी नहीं लगता। सारे समय पापा की और तुम्हारी याद आती रहती है। स्कूलवालों ने भी मुझे आठवीं में ही भरती किया है। उस दिन तुम मेरे हेडमास्टर साहब के पास चली जातीं तो कितना अच्छा होता, पूरा एक साल बच जाता। तुमने मेरा इतना-सा काम भी नहीं किया, दीदी पूरा एक साल बिगड़वा दिया···।"

क्या सचमुच ही उसने टुन्नी का साल बिगड़वा दिया? नहीं, नहीं, जो कुछ उसने किया ठीक ही किया। कोई उसके पास इस तरह की सिफारिश लेकर आए तो? उसका बस चले तो वह उसे स्कूल के फाटक से ही निकाल बाहर करे। वह शुरू से ही इतना कहती थी कि टुन्नी, पढ़, मेहनत कर। पर उस समय पापा को टुन्नी बच्चा लगता था। अब फेल हो गया तो जान-पहचान का फायदा उठाओ, सिफारिश करो। उसने जो कुछ किया ठीक ही किया। स्कूलों में यह सब देखकर उसका मन आक्रोश, दुःख और ग्लानि से भर जाता है। पर होता है और वह देखती भी है।···लेकिन उससे क्या हुआ, वह स्वयं ऐसा कभी नहीं

व्यंग्यात्मक ढंग से मुस्कराएंगी। उनकी इस मुस्कराहट ने हमेशा ही उसके मन में घृणा पैदा की है। पर, उसे लगा, जैसे कल वह इस मुस्कराहट का सामना नहीं कर सकेगी। उसका उपहास करती, उसपर आरोप लगाती-सी मिसेज़ नाथ की मुस्कराहट अंधेरे में एक बार उसके सामने कौंध गई। कुन्ती ने करवट बदली तो मकान-मालिक के बच्चों के मास्टर का दयनीय, सूखा-सा चेहरा उसके सामने उभर आया। एक यह व्यक्ति है, जिसने उसके मन में हमेशा अपने काम के प्रति अरुचि उत्पन्न की है। ओह! क्या-क्या कल्पनाएं थीं उसके मन में अध्यापन को लेकर!...लेकिन मिसेज़ नाथ...यह मास्टर...कुन्ती ने फिर करवट बदल ली।

एक महीने में ही घर जैसे सब कुछ बदल गया है। उसे वह दिन याद आया, जब वह डॉक्टर के यहां से पापा की एक्स-रे प्लेट के साथ रिपोर्ट लेकर आई थी कि उन्हें क्षय है। रास्ते-भर वह यही सोचती आई थीं कि पापा को रिपोर्ट कैसे देगी? उनपर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? दवाइयों का लम्बा नुस्खा और हिदायतों की लम्बी सूची समस्या के दूसरे पहलू को भी उभार-उभारकर रख रही थी। कैसे वह सब करेगी? करना तो सब उसीको है। पिछले चार सालों से इस घर के लिए वही तो सब कुछ करती आई है। वही तो पापा की पहली संतान है और पापा हमेशा ही कहते थे, वह उनकी लड़की नहीं, लड़का है! शुरू से उसे लड़के की तरह ही पाला...बचपन में वह लड़कों के साथ खेली, लड़कों के साथ पढ़ी और अब लड़कों की तरह ही इस घर को संभाल रही है। पर अब?

घर पहुंची तो पापा पलंग पर लेटे हुए थे। उसने चुपचाप वह लिफाफा उनके हाथ में थमा दिया और नौकर को चाय लाने का आदेश देकर अंदर चली गई। वह प्रतीक्षा कर रही थी कि पापा उसे बुलाएंगे, कुछ कहेंगे, पर उन्होंने नहीं बुलाया। क्या पापा को रिपोर्ट देखकर

सदमा लगा ? क्या वह पहले नहीं जानते थे कि उन्हें क्षय है ? फिर ?

चाय पीने वह बाहर जाकर बैठी। शायद अब कोई बात चले ! पर फिर मौन। पापा पैर फैलाकर तकिये के सहारे बैठे शून्यनजरों से श्रासमान निहार रहे थे। कुन्नी ने प्याला पकड़ाया तो चाय पीने लगे। खामोशी के ये क्षण कुन्नी को बहुत बोझिल लगे थे। सामने इतनी बड़ी समस्या है और दोनों यों मौन बैठे हैं। स्थिति की गम्भीरता को दोनों ही महसूस कर रहे थे, पर लग रहा था जैसे उसका नाम लेने-भर से वह और विकट हो जाएगी। पापा शायद सोच रहे थे कि दोनों बच्चे कितने असहाय महसूस करने लगेंगे ! और कुन्नी सोच रही थी कि बात करने से ही पापा के मन में जीवन के प्रति कैसी घातक निराशा छा जाएगी! दोनों बच्चों के अनिश्चित भविष्य की चिन्ता उन्हें कितना व्यथित बना देगी ! पर मौन रहने से ही तो यह सब नहीं सुलझ जाएगा। तब ?

तब केवल बात करने-भर के लिए ही कुन्नी ने टुन्नी को इलाहाबाद भेजने की बात कह दी थी। वह जानती थी कि पापा इसका विरोध करेंगे। अपने बच्चों को वे एक दिन के लिए भी अपनी आंखों से दूर नहीं कर सकते। फिर टुन्नी छोटा था, अधिक लाड़ला। पर वे कुछ नहीं बोले थे। धीरे से इतना ही कहा था, "भेज देना।" कुन्नी को लगा, जैसे पापा विवश होकर कह रहे हों—मैं कौन होता हूं कुछ कहनेवाला ? अब तो तुम्हीं सब कुछ हो, जो चाहो करो। मैं क्षय का रोगी···

कुन्नी की आंखें छलछला आई थीं।

थोड़ी देर बाद पापा ने रुकते-रुकते कहा था, "एक बार कोशिश करके इसे पढ़वा तो दे, तेरी हेडमास्टर साहब से अच्छी जान-पहचान है···वहां भी जाए तो एक साल तो बच जाए।"

जहर की तरह कुन्नी ने चाय का घूंट निगला था और अपने को भरसक संयत करके बोली थी, "पापा, कम से कम स्कूलों को तो इन सारी बातों से भ्रष्ट न करवाओ। टुन्नी मेरा अपना विद्यार्थी होगा;

भी मैं उसे कभी नहीं चढ़ाती।" उसके स्वर में आदेश नहीं था, पर दृढ़ता थी और पापा चुप हो गए थे।

पर आज टुन्नी का पत्र जाने क्यों रह-रहकर उसके मन में टीस उठा रहा है! कुन्ती को लगा, जैसे प्यास से उसका गला सूख रहा है। उसने उठकर पानी पिया। आकर लेटी तो नजर फिर वायलिन पर पहुंच गई। एक बार फिर इच्छा हुई कि वायलिन लेकर छत पर चली जाए। पर उसने अपनी आंखें बन्द कर लीं।

सावित्री की टच्यूशन वह निभा सकेगी? अब तो जैसे भी हो, निभाना ही होगा। वह स्कूल में छः घण्टे काम करती है, तब जाकर उसे दो सौ रुपये मिलते हैं और कहां डेढ़ घण्टे के ही दो सौ! फिर एक महीने खुशामद की उसकी मां ने। चार चक्कर तो घर के ही लगाए। पर फिर भी और उसकी आंखों के सामने मकान-मालिक के मास्टरजी फिर घूम गए···वे मास्टरजी हैं, पर कभी रिक्शे में सामान लदवाकर लाते हैं तो कभी सेठानी का हिसाब लिखते रहते हैं। हुंः! वह तो जिस दिन भी देखेगी कि उसके सारे परिश्रम के बावजूद सावित्री नहीं सुधर रही, कुछ भी नहीं सीख रही, उसी दिन छोड़ देगी, चाहे कितनी ही मुसीबत क्यों न सहनी पड़े। सावित्री को पढ़ाना कोई सरल काम नहीं है। जो आठवीं के भी लायक नहीं है उसे नवीं में पास करवाना···

एक महीने में ही बैंक से पापा के हजार से अधिक रुपये निकल चुके थे। वह नहीं चाहती है कि अब और निकले। पूंजी के नाम पर उनके पास कुल पांच हज़ार ही तो थे जिनके प्रति उनका मोह उम्र के साथ ही साथ बढ़ता जा रहा था। लगता था, जैसे यह रुपया ही उनका एकमात्र सहारा है। उसे वह कभी कुन्ती के व्याह के लिए बताकर एक उत्तरदायी बाप होने का सन्तोष प्राप्त करते थे, तो कभी टुन्नी की पढ़ाई के लिए बताकर उसके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना का सुख लेते थे। उसमें से भी अब खर्च होने लगा। कुन्ती भी क्या करती? यों तो

पापा की पेंशन, अपनी तनख्वाह और गांव के मकान के किराये से वह अच्छी तरह काम चलाती आ रही थी, पर बीमारी का यह अनिश्चित खर्च···और बीमारी भी अनिश्चित अवधि तक की···

दूर कहीं मुर्गा बोला। यह क्या सवेरा होने आया? तो वह आज बिलकुल नहीं सोने पाई। कल सवेरे से ही फिर जुट जाना है···बाज़ार, स्कूल, सावित्री, पापा की परिचर्या···उसका सिर भारी होने लगा!

अपना घण्टा लेकर कुन्ती स्टाफ़-रूम में पहुंची और चुपचाप कुर्सी पर बैठकर बाहर देखने लगी। बहुत-सी कापियां देखने को जमा हो गई थीं, पर मन ही नहीं कर रहा था कुछ करने को। सिर बेहद भारी हो रहा था और नींद आंखों में घुल रही थी। तभी मिसेज़ नाथ अपने भारी-भरकम कंधों पर कापियों के दो गट्ठर लादे घुसीं। उसने देखकर भी नहीं देखा। नाथ भी कुछ नहीं बोलीं, चुपचाप कापियां देखने बैठ गईं। कुन्ती ने सोचा, क्या इन्हें मालूम नहीं हुआ है कि मैंने सावित्री के यहां ट्यूशन कर ली है? हो सकता है, आज न हुआ हो, पर कल तो होगा ही। तब···

फड़फड़ाती हुई एक कापी फर्श पर गिरी तो कुन्ती ने चौंककर पीछे देखा। नाथ ने गुस्से में आकर किसी लड़की की कापी ही उछाल दी थी और बड़बड़ा रही थीं, "दिमाग में गोबर भरा है और पढ़ने का शौक चर्राया है! अपने घर बैठो, खाओ-पियो और मौज करो। न जाने कहां-कहां से दिमाग चाटने आ जाती हैं!···"

कुन्ती फिर बाहर देखने लगी। यों, वह इस एक साल में इन सब बातों की काफ़ी अभ्यस्त हो चुकी थी। फिर भी लड़कियों पर यों झुंझलाना, ऐसे अपशब्द कहना उसे कभी अच्छा नहीं लगता। फिर पढ़ी-लिखी, सभ्य-सुसंस्कृत महिलाओं के मुंह से निकले हुए ऐसे शब्द, जो इतनी छात्राओं की अध्यापिकाएं हैं, उनकी आदर्श हैं।

उसे याद आया, जब पहली बार उसने इन्हीं नाम को डांटते हुए सुना था, तो आश्चर्य और गुस्से के साथ-साथ उसे बेहद हंसी भी आई थी। वे गुस्से से कांपती हुई जोर-जोर से स्केल को मेज पर पटककर सामने खड़ी थर-थर कांपती किसी लड़की को कह रही थीं, "कल यदि पाठ याद करके नहीं आई तो इस चलते हुए पंखे में लटका दूंगी!" और कुन्ती को पंखे से लटकी हुई लड़की की कल्पना ने बेहद हंसाया था।

एक वह थी जो अपनी कमजोर छात्राओं को सवेरे जल्दी आकर पढ़ाया करती या देर तक ठहरकर पढ़ाती; स्नेह और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से उनके खोए आत्मविश्वास को जगाती। पढ़ाई के अतिरिक्त विभिन्न रुचियों के विकास के लिए नई योजनाएं बनाया करती थी। इस सबका परिणाम यह हुआ था कि थोड़े ही दिनों में वह अपनी सह-कर्मिणियों के बीच व्यंग्य और उपहास की पात्री और छात्राओं की 'परम-प्रिय बहनजी' बन गई थी। पर साल-भर बीतते-बीतते उसका भी उत्साह बहुत कम हो गया था। कापियां देखते समय उसने कई बार अपने परिश्रम की व्यर्थता महसूस की थी। पर फिर भी ऐसे अपशब्द···इस तरह भल्लाना···

"सुना है, सावित्री की मां ने उसे किसी दूसरे स्कूल में नवीं कक्षा में भरती करवा दिया है और शायद तुमने उसे घर पर पढ़ाना मंजूर कर लिया है?"

बात कुन्ती से ही कही गई थी, पर कुन्ती ने न मुड़कर उधर देखा, न जवाब ही दिया।

"पैसे के जोर से नवीं कक्षा क्या, मैट्रिक का सर्टिफिकेट भी मिल सकता है। और भई, हमने तो पहले ही कहा था कि ऐसी अच्छी ट्यूशन भाग्य से ही मिलती है! जब सामनेवाला खुशामद कर रहा है तो हमें क्या, सीखे न सीखे, हमारी बला से! हम तो, जितना समय तय हुआ है, पढ़ाकर आ जाते हैं! अच्छा कुन्ती, कितना लोगी?"

नाथ के शब्द कुन्नी को बुरी तरह बेध रहे थे। बिना मुड़े ही उसने जवाब दिया, "मैंने लेन-देन की कोई बात नहीं की। एक महीने में यदि वह कुछ सीखेगी तो पढ़ाऊंगी, नहीं तो छोड़ दूंगी।" और उसे लगा कि नाथ के चेहरे पर फिर वही व्यंग्यात्मक मुस्कराहट फैल गई है, मानो कह रही हो, अभी नई-नई हो, इसलिए यह सब कह रही हो, धीरे-धीरे अपने-आप रास्ते पर आ जाओगी।

क्या सचमुच कुन्नी भी एक दिन नाथ जैसी हो जाएगी? ...घर जाकर कुन्नी ने चाय पी और सावित्री के यहां चलने की तैयारी करने लगी। चाय वह हमेशा पापा के साथ बैठकर ही पीती थी और उनकी तबीयत का हाल भी जान लेती थी। यों नौकर अच्छा है, फिर भी उसने रमा बुआ को लिख दिया है कि वे गांव से आ जाएं। उसका तो बहुत-सा समय बाहर निकल जाता है। घर का कोई आदमी पापा के पास होना ही चाहिए। वह उठने लगी तो पापा ने कहा, "अभी तो स्कूल से आई है, थोड़ी देर आराम कर ले।"

वह बैठ गई। वह जानती है कि देर कर देने से ट्राम-बस में भयंकर भीड़ हो जाती है, घुसना असम्भव हो जाता है; फिर भी पापा की बात टालना नहीं चाहती। उसके इस दोहरे परिश्रम से पापा यों ही काफी दुखी हैं। इस सबके लिए वे अपने को ही उत्तरदायी समझते हैं। कुन्नी उनके दुःख को किसी प्रकार भी नहीं बढ़ाना चाहती। इस बीमारी ने कितना विवश, कितना निरीह बना दिया है पापा को!

एक महीना पढ़ाकर कुन्नी को लगा कि सावित्री को वह अब नहीं पढ़ा सकेगी। डेढ़ घण्टा पढ़ाने के लिए पूरा डेढ़ घण्टा और उसे बस में बिगाड़ना पड़ता है। और इस प्रकार स्कूल के बाद पूरे तीन घण्टे सावित्री के नाम अर्पण हो जाते हैं। उसके बाद वह इतनी थक जाती है कि किसी पत्रिका की दो पंक्तियां भी उससे नहीं पढ़ी जातीं। कल जब वह लेटी थी तो उसने देखा था कि वायलिन पर धूल की हल्की-सी परत जम गई

है। उसका मन टीस उठा था। उसने धूल पोंछी, पर चाहकर भी बजाने के लिए वह ऊपर नहीं जा सकी थी। बस, एकटक उसे देखती रही थी, और उसे लग रहा था कि यदि जिन्दगी का यही रवैया रहा तो वह शायद फिर कभी वायलिन नहीं बजा सकेगी। इस कल्पना से उसकी आंखें छलछला आई थीं। नहीं, नहीं, जो भी होगा वह सहन कर लेगी, पर कल ही सावित्री की मां से कह देगी कि वह अब पढ़ा नहीं सकेगी। और सचमुच ही दूसरे दिन कुन्ती ने जाकर सावित्री की मां से कहा, "देखिए, मैंने अपनी ओर से भरसक प्रयत्न किया, पर लगता है, सावित्री को पढ़ाना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा।" सारे रास्ते वह संकल्प-विकल्प करती रही थी, एक महीने के मिले हुए दो सौ रुपयों से घर की आर्थिक स्थिति कितनी संभल जाएगी, यह भी उसके सामने था, पर फिर भी उसने कह ही दिया।

"यह क्या बहनजी? आपके भरोसे तो हमने नया स्कूल शुरू करवाया। आपके पास पढ़कर इसका मन कुछ-कुछ लगने लगा था··· ऐसा तो मत करिए। एक बार बस किसी तरह दसवीं में पहुंचा दीजिए।"

"मैं बेहद थक जाती हूं। दूर भी तो बहुत आना पड़ता है। फिर पापा बीमार हैं, उनकी देखभाल, दवा-दारू करने के लिए भी तो मैं ही हूं।" पर कुन्ती को स्वयं लगा कि बात के अन्त तक आते-आते उसके स्वर की दृढ़ता जाती रही है।

"दूर तो है," कलाई में हीरे की चूड़ी नचाती हुई सावित्री की मां बोली, "पर एक साल तो अब आप निभा ही दीजिए!" फिर कुछ रुकते-रुकते बोली, "न हो, मैं गाड़ी का प्रबन्ध कर दूंगी; और क्या कर सकती हूं?"

कुन्ती अवाक्-सी मां का चेहरा देख रही थी···दो सौ रुपये और गाड़ी!

"बात यह है, बहनजी, कि सावित्री की बात एक बहुत बड़े घर में चल रही है। उन लोगों की एक ही ज़िद है कि लड़की दसवीं हो जाएगी तो शादी करेंगे। आप किसी न किसी तरह दसवीं में पहुंचवा दीजिए, फिर तो संभाल लेंगे। अब आजकल के लड़कों को भी क्या कहूँ, और यह सावित्री भी है कि आपके सिवाय किसीसे पढ़ने को राज़ी ही नहीं होती। आप आइए, गाड़ी का प्रबन्ध मैं कर दूंगी।"

उस दिन कुन्ती गाड़ी में बैठकर घर लौटी। जैसे ही गाड़ी कोठी के फाटक में घुसी, उसने देखा, मकान-मालिक के यहांवाले मास्टर साहब रिक्शे में सामान लदवाए चले आ रहे हैं। अपने को गाड़ी में पाकर उसका मन गर्व और आत्मसन्तोष से भर गया। उसने ट्यूशन भी की तो आत्मसम्मान के साथ की। बड़ी कोठी को पार करके वह अपने घर के सामने उतरी। पापा ने सुना तो वे भी प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन, संध्या को जब वह गाड़ी में बैठकर सावित्री के यहां जा रही थी तो उसने पहली बार देखा कि वह रास्ता कितना सुन्दर है। ठसाठस भरी हुई बस में धक्के खाते समय शायद अपने को संभालने की चिन्ता ही अधिक रहती थी, और काम से लौटे हुए, सट-सटकर लदे प्राणियों के पसीने की दुर्गन्ध से सर भन्नाता रहता था। उस सबको पार करके रास्ते का सौन्दर्य देख पाना क्या कोई सरल काम था? थोड़े दिनों में तो उसे लगने लगा, काश, वह स्कूल भी गाड़ी में ही जा पाती!

टुन्नी का मन अब लग गया था। मामा ने खबर दी थी कि वह पढ़ाई में भी अच्छा चल रहा है। पापा की तबीयत कभी ठीक, कभी खराब, यों ही चलती। बोलना उन्होंने एक प्रकार से बन्द ही कर दिया था। उनकी देख-भाल के लिए रमा बुआ आ गई थीं। कुन्ती के लिए वही स्कूल, घर, सावित्री...सारा घर जैसे एक ढर्रे पर चल रहा था। मन जब बहुत ऊबता तो रात में ऊपर जाकर घण्टों वायलिन बजाती,

यही तो उसके नीरस जीवन का एक आधार था।

उस दिन कुन्ती सावित्री को पढ़ाकर घर के लिए काम दे रही थी कि मां ने एक बच्चे के साथ प्रवेश किया, "बहनजी, यह सावित्री का भानजा है। अब से मेरे पास ही रहेगा। इसे कल ही स्कूल में डाला है। सावित्री के बाद थोड़ी देर इसे भी देख लिया करिए।" कुन्ती को बोलने का अवसर दिए बिना ही वह बोले चली जा रही थी, "बड़ा प्यारा बच्चा है, मीठी-मीठी बातें करके आपका मन मोह लेगा। नमस्ते करो, मुन्नू !" और उस बच्चे ने अपने छोटे-छोटे हाथ जोड़ दिए।

कुन्ती न हां कह सकी, न ना। अब सावित्री के बाद आधे घण्टे के करीब वह बच्चे को भी पढ़ाने लगी। संतोष और तसल्ली यही थी कि उसके बाद उसे गाड़ी घर तक छोड़ने आती थी और गाड़ी में बैठकर जब ठण्डी हवा का झोंका उसके बदन को सहलाता था, तो उसे बहुत अच्छा लगता था।

धीरे-धीरे यह सिलसिला बढ़ता गया। सावित्री के छोटे भाई-बहिन में से कोई न कोई अब आता ही रहता। कभी किसीको घर का काम पूछना रहता था, तो किसीको टैस्ट की तैयारी करनी रहती थी। मां बस इसी बात का ध्यान रखती थी कि सावित्री जब तक पढ़े, कोई बच्चा कमरे में न जा पाए। कभी-कभी तो मां स्वयं उसके पास आकर बैठती, सावित्री की पढ़ाई की बात पूछती, पापा की तबियत के बारे में पूछती, घर की और बातें पूछती और फिर कुन्ती के धैर्य की, उसके साहस की तारीफ करती हुई चली जाती। शुरू-शुरू में कुन्ती को यह सब बहुत अटपटा लगता था, फिर धीरे-धीरे वह इस सबकी अभ्यस्त हो गई।

रात को जब वह लेटी तो उसे टुन्नी की बड़ी याद आ रही थी। आज स्टाफ-रूम में देखे हुए एक सिनेमा पर बड़ी बातें होती रही थीं। टुन्नी के जाने के बाद कितना नीरस हो गया है उसका जीवन ! बिस्तर

पर लेटे हुए पापा और काम में व्यस्त बुआजी। उसके बराबर की और लड़कियां कितनी मौज करती हैं! घूमना-फिरना, सैर-सपाटे, हंसी-मज़ाक...उसके जीवन में तो यह सब दूर-दूर तक भी नहीं है।...क्या कभी भी नहीं होगा? क्या उसका सारा जीवन यों ही निकल जाएगा? जितना रुपया वह कमाती है, उसमें कितने ठाट से वह रह सकती है! पर वह तो जानती ही नहीं कि ठाट क्या होता है, मौज क्या होती है। पापा क्या अब कभी अच्छे नहीं होंगे? ...कितने दिन तक वह इस तरह पड़े रहेंगे? ...टुन्नी होता तो वह कल ही उसके साथ सिनेमा जाती। अब टुन्नी बड़ा होगा और उसके कन्धों का भार हल्का करेगा? सच, अब तो वह ऊब गई है।

सामने वायलिन लटका था। अब वह बजा नहीं पाती, उसे देखती रहती है। उसे एकटक देखते रहना भी सान्त्वना देता है। कितना काम हो गया है उसका वायलिन बजाना! जब-तब समय मिलता है तो उसकी धूल पोंछ देती है। कभी-कभी तो उसका मन करता है कि स्कूल, घर, सब छोड़कर, अपना वायलिन लेकर कहीं चली जाए और इतना बजाए, इतना बजाए कि उसका अस्तित्व ही मिट जाए। वह कुन्ती न रहे, बस संगीत की एक स्वर-लहरी बन जाए, उसीमें मिल जाए!

दिसम्बर की छुट्टियों में टुन्नी आया। उसके आने से ही जैसे घर चहक उठा। पापा प्रसन्न, कुन्ती प्रसन्न। घर की एकरसता टूट गई। आते ही उसने फरमाइश की कि क्रिकेट का टैस्ट-मैच देखेंगे। अभी भी क्रिकेट के लिए उसका पागलपन जैसे का तैसा बना हुआ था। पिछले साल सारे दिन क्रिकेट खेल-खेलकर ही तो फेल हुआ था। पर इस बार कुन्ती ने टिकट का प्रबन्ध करने के लिए ज़मीन-आसमान एक कर डाला। उसकी बड़ी इच्छा थी कि जैसे भी हो, टुन्नी को वह मैच देखने के लिए भेज दे। इसी बहाने वह अपने परिचितों के घर भी हो आई, व. आजकल तो मिलना-जुलना भी छूट गया था।

पर किसी तरह भी टिकट का प्रबन्ध नहीं हो सका। वह समझ नहीं पा रही थी कि लोगों पर ऐसा पागलपन कैसे सवार हो जाता है इस खेल को लेकर? किसी चीज़ का नशा भी होता है, यह सब वह जैसे धीरे-धीरे भूलती जा रही थी। उसने टुन्नी को समझा दिया कि कमेण्ट्री सुनकर ही सन्तोष कर लेना।

सावित्री के यहां पढ़ाने गई तो सावित्री ने डरते-डरते कहा, "बहन-जी, कल मत आइए, हम मैच देखने जाएंगे।"

"अच्छा, तुम लोगों को टिकट मिल गए? मेरा छोटा भाई भी आया हुआ है इलाहाबाद से, पागल हो रहा है, पर किसी तरह टिकट का इन्तज़ाम नहीं हो सका।"

"मां से पूछूं, शायद एकाध ज्यादा हो।" और सावित्री दौड़ गई।

कुन्ती सोच रही थी, उसे इन लोगों का खयाल क्यों नहीं आया अभी तक?

मां आई, टेलीफोन किया और कहा, "आप उसे तैयार रखिए नौ बजे। बच्चे गाड़ी में उधर से ही उसे लेते जाएंगे।"

कुन्ती प्रसन्न हो गई। टुन्नी सुनेगा तो कितना प्रसन्न होगा! वह ज़बरदस्ती इन लोगों से खिची-खिची रहती है। कितना अपनापन रखती हैं बेचारी! पापा के बारे में भी हमेशा पूछती रहती हैं, कहती रहती हैं, किसी भी तरह की जरूरत हो तो कहिएगा! वह व्यवहार में क्यों ज़रूरत से ज्यादा रूखी है?

टुन्नी इलाहाबाद लौट गया। उसी सप्ताह दो बार पापा की तबीअत बहुत खराब हुई। कई दवाइयां बदलीं, विशेषज्ञ को भी बुलाना पड़ा और न चाहकर भी कुन्ती को फिर बैंक से पांच सौ रुपये निकालने पड़े। आखिर वह क्या करे? ...अब बचे ही कितने हैं, वे भी समाप्त हो जाएंगे, तब? कुन्ती को कुछ नहीं सूझता कि तब वह क्या करेगी

सावित्री के छःमाही इम्तिहान का फल निकलनेवाला है। वह पह

गे कुछ सुधरी है, पर नवीं में वह पास नहीं हो सकती, यह कुन्ती जानती है। उसने तो पहले भी कहा था, पर मां को एक ही जिद है कि जैसे भी हो, उसे दसवीं में भेजना है। तो वह क्या करे? वह पूरा परिश्रम करती है, जी-जान लगाकर पढ़ाती है। परीक्षा-फल अच्छा नहीं निकला तो मां क्या कहेगी?

वह पहुंची तो पहले मां से ही मुलाकात हुई, "लीजिए, आपकी ही बात कर रही थी। इस बार मेरा एक काम आपको करना होगा।"

कुन्ती की जिज्ञासु आंखें मां के चेहरे पर टिक गईं। मेज की दराज में से एक थैला निकालकर वह बोली, "उस दिन आपका भाई जैसा स्वेटर पहने था, वैसा एक मेरे लिए भी बना दीजिए। मैं तो यह काम जानती नहीं। उसका स्वेटर मुझे बहुत ही पसन्द आया।" बाहर से किसीके बुलाने पर मां थैला मेज पर छोड़कर चली गई, और फिर लौटकर आई ही नहीं।

कुन्ती लौटी तो उसके हाथ में ऊन का थैला था। घर आते ही बुआ ने बताया, डॉक्टर साहब आए थे, एक नुस्खा दे गए हैं। उसने बिना देखे ही नुस्खा पर्स में पटक दिया। पापा के पास पहुंची तो वे आंखें बन्द किए सो रहे थे। एक क्षण वह उनके मुरझाए जर्द चेहरे को देखती रही, फिर भारी मन से लौट आई। उस रात उसने खाना भी नहीं खाया। चुपचाप पड़ी-पड़ी वायलिन को ही देखती रही। फिर आंखें मूदीं, तो कोरों से आंसू ढुलक पड़े।

आखिर जिस बात का डर था, वही हुआ। सावित्री छःमाही इम्तिहान में फेल हो गई। कुन्ती पहुंची तो देखा, सावित्री रो रही थी और मां का पारा चढ़ा हुआ था। कुन्ती को देखते ही बोली, "यह देखिए, यह निकला रिजल्ट! आप तो कहती थीं कि अब सुधर रही है, निकल जाएगी। सभीमें तो फेल है! नहीं, बहनजी, अब तो यह पढ़ाई छुड़ानी ही पड़ेगी" पढ़ना-लिखना इसके बस का नहीं! फिर वह आगे

बात भी खतम हुई, अब कौन पानी की तरह रुपया बहाए :

"देखूं," कुन्ती ने रिपोर्ट हाथ में लेते हुए कहा, "पेपर्स इतने खराब तो नहीं किए थे कि सभीमें फेल हो जाती।" पर उसे रिपोर्ट में लाल धब्बों के सिवाय कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था। सावित्री की रिपोर्ट के लाल धब्बे, पापा के कफ में खून के लाल धब्बे···सब जगह बस लाल···लाल···

"मैं तो अभी भी कहती हूं कि आप एक बार इसके स्कूल जाइए, इसकी टीचरों से मिलिए। स्कूल जाने से बात ही दूसरी हो जाती है। कुछ उम्मीद हो तो पढ़ाई जारी रखें, नहीं तो किस्सा खतम करें।"

और कुन्ती सोच रही थी, उसके घर आकर उसकी खुशामद करनेवाली मां और यह मां क्या एक ही हैं?

"मैं स्कूल जाकर पता लगाऊंगी, बात करूंगी। वार्षिक परीक्षा में तो इसे पास करवाना ही है।"

"अब आप ज़िम्मा लें तभी पढ़ाऊंगी! जैसे भी हो, पास करवा दीजिए!"

कुन्ती जानती है कि ऐसा ज़िम्मा कोई नहीं ले सकता, और ले तो निभा नहीं सकता। फिर भी उसने कहा कि वह पूरी कोशिश करेगी।

और सचमुच कुन्ती सावित्री के स्कूल गई। सौभाग्य से वहां की अध्यापिकाओं में एक पुरानी परिचिता मिल गई। पर वहां वह पूछताछ के अतिरिक्त कर ही क्या सकती थी?

वह सावित्री को और ज़्यादा मेहनत से और अधिक समय देकर पढ़ाने लगी।···अभी सावित्री का पढ़ाना बन्द हो जाए तो? इस 'तो' के बारे में तो वह सोच ही नहीं सकती!

गरमियां आईं तो कुन्ती के नीरस, बोझल, उदास दिन और भी लम्बे हो गए। अब उसे न पापा की बीमारी की चिन्ता थी, न स्कूल के काम में कोई दिलचस्पी थी, और न सावित्री को पढ़ाने में, फिर भी वह

मशीन की तरह सब करती थी। अब सावित्री की मां को कोई भी बात उसे बुरी नहीं लगती। लौटते समय कभी कोई बच्चा साथ हो जाता, और मां आजकल के ज़िद्दी बच्चों को कोसती हुई कह देती, "बहनजी, ज़रा दो मिनट को उतरकर इसे जूता दिलवा दीजिएगा। ये ड्राइवर लोग तो ठगा लाते हैं"'। बच्चे भी क्या हैं, बात मुंह में पीछे निकलती है, चीज़ पहले चाहिए!"

कुन्ती दिलवा देती।

अब टुन्नी आ जाएगा। वह बेसब्री से टुन्नी की प्रतीक्षा कर रही थी। उसके आने से स्थिति में किसी तरह का भी अन्तर पड़नेवाला नहीं था, फिर भी वह उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। कितनी ही बार उसने पड़े-पड़े सोचा कि टुन्नी के आते ही वह कहेगी, 'टुन्नी, ले, अब तू संभाल। मैं नहीं जानती, तू छोटा है या बड़ा'''जो तेरी समझ में आए, कर। मैं कहीं जाती हूं। पापा का ठेका मैंने अकेले तो नहीं लिया। जब तक मुझमें दम रहा, मैंने संभाला'''अब एक दिन भी मुझसे नहीं सभलता'''' और जब-जब उसने ऐसे सोचा, वह घटों रोई। पापा से वह क्यों ऊब गई थी?'''क्यों जाने-अनजाने मानने लगी थी कि या तो पापा अच्छे हो जाएं या फिर'''

सावित्री को पास कराने के लिए उसने रात में देर-देर तक जागकर प्रश्नों के उत्तर लिखे और उसे रटवाए। इम्तिहान के दिनों में वह सवेरे-शाम, दोनों समय पढ़ाने गई। इतना सब करने पर भी पता नहीं वह पास होगी या नहीं?

अचानक एक दिन पापा को ज़ोर की कै हुई और सारा फर्श खून से भर गया। कुन्ती सकते में आ गई। बुआजी ने रो-रोकर घर भर दिया। डाक्टर, दवाई, इंजेक्शन, भाग-दौड़'''पागलों की तरह कुन्ती ने सब किया। वह खुद नहीं जानती, उसमें इतनी शक्ति कहां से आ गई'''

विशेषज्ञ के कहने पर पापा अस्पताल में भरती करवा दिए,

कुन्ती अस्पताल से लौटी तो बुआ ने सारा घर धो रखा था। घर में पैर रखते ही उसे एक विचित्र-सी अनुभूति हुई। लगा, जैसे वह उन्हें कुछ दिनों के लिए अस्पताल में नहीं छोड़कर आई है, वरना हमेशा-हमेशा के लिए कहीं छोड़कर आई है, जैसे वे अब कभी नहीं लौटेंगे···वह सिहर गई।

टुन्नी को तार देकर बुला ले? नहीं···दो दिन वाद उसकी परीक्षा समाप्त होगी, तभी बुलाएगी। कहीं बीच में ही आ गया तो यह साल फिर खराब हो जाएगा। एक साल तो पहले ही खराब हो चुका है।

दो दिन वाद ही कुन्ती को सावित्री की मां से जाकर पांच सौ रुपये मांगने पड़े। मां ने रुपये दे दिए। उसने जल्दी से उन्हें लौटाने का आश्वासन दिया। इम्तिहान हो चुके थे, सो, पढ़ाने का काम इतना नहीं था, योंही इधर-उधर का कुछ करवाकर कुन्ती लौटी, तो मां ने कहा, "वहनजी, अब तो सावित्री का रिज़ल्ट निकलनेवाला है। आप एक वार ज़रा स्कूल में देख आइए न। ऊंच-नीच हो तो अभी कुछ करवा डालिए, रिज़ल्ट निकलने के वाद वड़ी मुश्किल हो जाती है। अभी जाना चाहें तो गाड़ी नीचे खड़ी है।"

"जी, इस समय तो अस्पताल जाना है। फिर मैं सोचती हूं, इस वार वह वैसे ही पास हो जाएगी।"

"कोई भरोसा नहीं, वहनजी, कल आप स्कूल के समय आकर चली जाइए। यह सव करवाने का ज़िम्मा अब तो आपका ही है। कुछ देने-लेने की वात हो तो भी कोई चिन्ता नहीं। उस स्कूल में सव चलता है, वस, ज़रा वात करने का ढंग चाहिए।"

"जी, कल जाकर देखूंगी। मैं तो सोचती हूं कि वह योंही पास हो जाएगी।"

"सोचिए-साचिए मत, आप चली ही जाइए!" उतरते-उतरते कुन्ती ने सुना।

रात में सोई तो सोच रही थी कि ये पांच सौ रुपये कैसे चुकाएगी? मामा को लिख दे कि गांव का मकान बेच दें?···मामा को एक बार कम से कम आकर देखना तो चाहिए था।···आज कितना असहाय वह अपने को महसूस कर रही थी। इतनी बड़ी दुनिया में क्या कोई भी ऐसा नहीं है जो उसकी पीठ पर आश्वासन-भरा हाथ रखकर दो शब्द सान्त्वना के ही कह दे? रोते-रोते उसकी हिचकियां बंध गईं। अचानक ही उसके मुंह से निकला, "हे भगवान्! अब तो तू पापा को उठा ले! मुझसे बरदाश्त नहीं होता! मैं टूट चुकी हूं।···" और फिर उसने दोनों हाथ कसकर मुंह पर रख लिए, मानो मुंह से निकली हुई इस बात को वापस धकेल देना चाहती हो।

सामने वायलिन लटका था, उसपर धूल की मोटी-सी परत जम गई थी। वायलिन बजाना तो उसका कभी का छूट चुका था, जब-तब उसकी धूल पोंछ दिया करती थी, सो वह भी छूट गया। कितने दिनों से उसने धूल नहीं पोंछी! आज भी उससे नहीं उठा जा रहा है। क्या होगा केवल धूल पोंछकर? अब क्या वह कभी वायलिन बजा पाएगी?

टेलीफोन करके, इधर-उधर से कोशिश करके सावित्री की मां ने पता लगा लिया कि सावित्री दो विषयों में फेल है। एक विषय में फेल होती तो उसे चढ़ा दिया जाता, पर अब उसे नहीं चढ़ाया जाएगा। एक विषय में जैसे भी हो उसे पास करवाना ही है। कुन्ती जब पहुंची तो मां ने उसे बैठने भी नहीं दिया, "बहनजी, यह मैंने पता लगा लिया, वरना सावित्री तो फेल ही हो जाती! आपने तो कह दिया, पास हो जाएगी। अब आप तुरन्त ही गाड़ी लेकर जाइए, अपनी पहचानवाली बहनजी से, बड़ी बहनजी से बात करिए, इधर-उधर कोशिश करके पास करवाकर आइए; नहीं तो हमारे इतने रुपयों पर पानी फिर जाएगा, साल खराब हुआ सो अलग।"

"किन दो विषयों में फेल हो गई?"

"वहां जाकर पता लगाइए। फेल हुई है, यह तय बात है। आपने ज़िम्मा लिया था, अब तो पूरा करना ही पड़ेगा! आख़िर..."

कुन्ती से कोशिश करके भी कुछ नहीं बोला गया।

"गाड़ी नीचे ही खड़ी है। देर करने से अब काम नहीं चलेगा। दो दिन बाद तो रिज़ल्ट ही निकल जाएगा। फिर कितनी मुश्किल होगी कुछ करवाने में! और हां, न हो तो कुछ रुपये लेकर जाइए, ढंग से बात करने से सब कुछ हो जाता है इस स्कूल में...हमने नवीं में भरती करवा ही दिया था, आप अब चढ़वा दीजिए!"

कुन्ती बिना बोले चुपचाप नीचे उतर गई। सबसे पहले वह अपनी परिचिता के पास गई। पर वह समझ ही नहीं पा रही थी, वह क्या कहे, कैसे कहे? उसकी मित्र काम करते हुए भी इधर-उधर की बातें कर रही थी—तुम बहुत दुबली दिखाई दे रही हो...पापा कैसे हैं... आदि...आदि।

कुन्ती स्वयं नहीं जानती, उसने क्या कहा, कैसे कहा। बस इतना उसे याद है कि वह एक अध्यापिका से और मिली थी, प्रधानाध्यापिका से भी मिली थी। उनसे मिलने के लिए काफी देर तक उसे बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। वह बैठी भी रही थी। उसे याद नहीं कि उसे उनसे कुछ आश्वासन भी मिला था या नहीं। उसे यह भी पता नहीं था कि लौटकर मां से वह क्या कहेगी।

नीचे उतरी तो प्यास से उसका गला बुरी तरह सूख रहा था। मई की गरमी भी कितनी भयंकर होती है! उसने चपरासी से पानी मांगा। उधर से एक भारी-भरकम महिला हंसती हुई पेपर्स का बण्डल लिए गुज़री। कुन्ती को लगा, यह महिला मिसेज़ नाथ से कितनी मिलती-जुलती है!

चपरासी ने पानी लाकर दिया तो एक सांस में ही वह सारा गिलास खाली कर गई। पता नहीं, जल्दी पीने के कारण या क्यों, उसे बड़े ज़ोर

वह और भी जाने क्या-क्या बोले चली जा रही थी, पर मैं बिना कुछ सुने यन्त्रवत् उसके पीछे खिंची चली जा रही थी। मेरे कान ऊपर की आहट लेने को सतर्क थे और नजर इधर-उधर कुछ ढूंढ रही थी, पर न मुझे कुछ सुनाई दे रहा था, न दिखाई। मुझे पूरी तरह इस बात का भी होश नहीं कि कब मैं छोटे-से कमरे में एक मृतप्राय रोगिणी की शय्या के समीप जा खड़ी हुई।

बुढ़िया ने कहा, "बीबीजी, नैना आ गई है!"

और जब पलंग पर लेटी उस कृशकाय नारी की निस्तेज आंखें मेरे शरीर पर ऊपर से नीचे घूमने लगीं, तो मेरा रोम-रोम कांप उठा।

तो ये हैं मेरी दर्शना मासी! और तभी मेरी आंखों के सामने आज से कोई सात साल पहले मेरे घर ड्राइंग-रूम में लटकी, मामी की वह तस्वीर घूम गई, जिसमें मासी नवविवाहिता वधू के रूप में शरमाई-सी मामाजी से सटकर बैठी थीं। पर उस रूप में और इस रूप में तो कोई साम्य नहीं है। यह कैसे हालत हो गई मासी की?

जाऊं, उनके पास जाकर बैठूं, यह सोचकर जैसे ही कदम बढ़ाया कि मामी का क्षीण स्वर सुनाई दिया। शून्य आंखों से देखते हुए वे बोलीं, "मैं जानती थी, जीजी कभी नैना को मेरे पास नहीं भेजेंगी। भेज देती, तो एक बार उसे प्यार करके मन की निकाल लेती। नैना की जगह यह न जाने किसे भेज दिया है! अन्त समय में मुझे यों न छलतीं, तो उनका क्या बिगड़ जाता?"

उनकी आंखों से आंसू टपक पड़े और उन्होंने करवट लेकर मेरी ओर पीठ कर ली। मैं जड़वत् जहां की तहां खड़ी रह गई।

बुढ़िया ने मुझे समझाया, "अभी होश में नहीं हैं, तुम उधर चल-कर खाओ-पीओ। सवेरे होश आने पर पहचान लेंगी। कल से तुम्हारा ही नाम रट रही थीं।"

पर मेरे पांव तो जैसे वहीं जम गए थे। बार-बार एक ही बात

तीन निगाहों की एक तस्वीर

नैना :

सहमे-से हाथ से मैंने दरवाज़े की कुण्डी खटखटाई। एक बार भय-भीत-सी नज़र आसपास के घरों पर डाली। गली में उस समय अन्ध-कार के साथ-साथ नीरवता भी छाई हुई थी। सामने के घर की खिड़की पर गोदी में बच्चा लिए एक औरत खड़ी थी। वेश-भूषा से वह एकदम गृहस्थिन लग रही थी।···नहीं, नहीं, यह मुहल्ला ऐसा-वैसा नहीं हो सकता! कुछ अधिक विश्वास के साथ एक बार ज़ोर से फिर मैंने कुंडी खटखटाई। गली के लैम्प-पोस्ट का धीमा प्रकाश मकान के २३/८ नम्बर पर सीधा पड़ रहा था। मकान तो यही है, पता नहीं, अन्दर क्या देखने को मिले? यही सोच रही थी कि दरवाज़ा खुला और एक बुढ़िया को सामने खड़ा पाया। उसके पानखाए होंठों ने मन को यों आक्रान्त कर दिया कि मैं कुछ पूछना भूल अवाक्-सी उसका मुंह देखती रह गई। दीवारों पर भी पान की पीक के दाग नज़र आए। तो क्या मां ठीक ही कह रही थीं?

"किसको चाहती हो?" तभी कानों से यह प्रश्न टकराया।

मेरे होश लौटे। "दर्शनादेवी यहीं रहती हैं?···मैं कानपुर से आई हूं।" मैंने हकलाते हुए कहा।

"नैना हो क्या? आओ, आओ, ऊपर आओ! बीबीजी तो बस कल से तुम्हारा ही नाम रट रही हैं, उनके प्राण शायद तुममें ही अटके हैं! तुम आ गई, बहुत अच्छा किया!"

वह और भी जाने क्या-क्या बोले चली जा रही थी, पर मैं बिना कुछ सुने यन्त्रवत् उसके पीछे खिंची चली जा रही थी। मेरे कान ऊपर की आहट लेने को सतर्क थे और नजर इधर-उधर कुछ ढूंढ रही थी, पर न मुझे कुछ सुनाई दे रहा था, न दिखाई। मुझे पूरी तरह इस बात का भी होश नहीं कि कब मैं छोटे-से कमरे में एक मृतप्राय रोगिणी की शय्या के समीप जा खड़ी हुई।

बुढ़िया ने कहा, "बीबीजी, नैना आ गई है!"

और जब पलंग पर लेटी उस कृशकाय नारी की निस्तेज आँखें मेरे शरीर पर ऊपर से नीचे घूमने लगीं, तो मेरा रोम-रोम काँप उठा।

तो ये हैं मेरी रंजना मामी! और तभी मेरी आँखों के सामने आज से कोई सात साल पहले मेरे घर ड्राइंग-रूम में लटकती, मामी की वह तस्वीर घूम गई, जिसमें मामी नवविवाहिता वधू के रूप में शरमाई-सी मामाजी से सटकर बैठी थीं। पर उस रूप में और इस रूप में तो कोई साम्य नहीं है। यह कैसे हालत हो गई मामी की?

जाऊँ, उनके पास जाकर बैठूँ, यह सोचकर जैसे ही कदम बढ़ाया कि मामी का क्षीण स्वर सुनाई दिया। शून्य आँखों से देखते हुए वे बोलीं, "मैं जानती थी, जीजी कभी नैना को मेरे पास नहीं भेजेंगी। भेज देतीं, तो एक बार उसे प्यार करके मन की निकाल लेती। नैना की जगह यह न जाने किसे भेज दिया है! अन्त समय में मुझे यों न छलतीं, तो उनका क्या बिगड़ जाता?"

उनकी आँखों से आँसू टपक पड़े और उन्होंने करवट लेकर मेरी ओर पीठ कर ली। मैं जड़वत् जहाँ की तहाँ खड़ी रह गई।

बुढ़िया ने मुझे समझाया, "अभी होश में नहीं हैं, तुम उधर चलकर खाओ-पीओ। सवेरे होश आने पर पहचान लेंगी। कल से तुम्हारा ही नाम रट रही थीं।"

पर मेरे पाँव तो जैसे वहीं जम गए थे। बार-बार एक ही बात

दिमाग में गूंज रही थी, 'क्या सबने इन्हें छला ही है ?' मैंने एक बार कमरे में चारों ओर नजर डाली। कमरे के धीमे प्रकाश में वहां की उदासी और भी बढ़ गई थी। कमरे की अस्त-व्यस्त चीज़ों की आड़ी-टेढ़ी बेडौल छायाएं दीवार पर पड़ रही थीं, देखकर ही मन भय से भर उठा। उस समय मासी की हालत पर तरस कम और सबको नाराज़ करके यहां चले आने की अपनी ज़िद पर पश्चात्ताप अधिक हो रहा था।

बुढ़िया मुझे दूसरे कमरे में छोड़कर चली गई। जाने कितने-कितने प्रश्न आंधी की तरह मेरे मन में उमड़ रहे थे ! मां की बातें, मासी की हालत, घर का वातावरण, सब मेरे सामने एक अनबूझ पहेली की तरह खड़े थे। मैंने अपनी सतर्क नजरों से इधर-उधर देखना शुरू किया। एकाएक ही कोने में रखे सितार, तानपूरे और तबले में मेरी दृष्टि उलझ गई। ये चीज़ें कभी देखी न हों, सो बात नहीं; पर यहां देखकर मेरे रोएं खड़े हो गए। जबरदस्ती दबाई हुई मन की आशंका पूरे वेग से उभर आई। देखते ही देखते कमरे के कोने में रखे वे वाद्य-यन्त्र झनझना उठे, तबला ठनकने लगा, घुंघरू झनकने लने और कहकहों की गूंज से कमरा भर गया। मुझे लगा, मेरा सिर चकरा जाएगा। इस सबके बीच मां की क्रोध-भरी मूर्ति दिखाई देने लगी, 'देख, नैना ! उस छिनाल के घर तू मत जा ! वह मर रही है तो मरने दे। मैंने तो सात साल पहले ही उसे मरा समझ लिया था। ज़िद करके तू वहां चली गई, तो समझ लेना, मां तेरे लिए मर गई।'

मैं पसीने से तरबतर हो गई। मैंने अपने को ही समझाते हुए कहा, 'नहीं, नहीं, मेरी दर्शना मासी ऐसी नहीं हो सकतीं। यह सब गलत है!' और मैंने उस अदृश्य नाचती नारी के स्थान पर मासी की वही छवि ला बिठाई, जिसमें वे नवविवाहिता वधू बनकर बैठी थीं।

"नैना बेटी, कुछ खा लो।" बुढ़िया थाली लिए मेरे सामने खड़ी थी।

"यहां अब कोई आएगा तो नहीं न ? रात में क्या यहां बहुत लोग आने-जाते हैं ?" एक सांस में ही मैं पूछ बैठी।

"रात-दिन क्या, यहां तो कभी कोई नहीं आता। जब बीबीजी की तबीयत ज्यादा खराब होती है, तो मैं ही वैद्यजी को बुला लाती हूं।"

मैंने निश्चिन्तता की एक लम्बी सांस ली। इच्छा हुई, इस बुढ़िया से ही सब कुछ पूछ डालूं, सब कुछ जान लूं, पर भय के मारे जाने कैसी जड़ता मन में व्याप गई थी कि मैं कुछ पूछ ही नहीं पाई। खाया मुझसे कुछ नहीं गया, चुपचाप लेट गई।

अजनबी घर में अजनबी लोगों के बीच पड़े-पड़े जाने कैसा लग रहा था। सोचा, मैं क्यों चली आई ? घर में सबसे लड़कर, सबको नाराज करके यहां आने की अपनी जिद को जैसे मैं स्वयं ही नहीं समझ पा रही थी। मासी, जिन्हें मैंने अपनी जिन्दगी में पहली और आखिरी बार चार वर्ष की उम्र में देखा था और जिनकी मुझे लेशमात्र भी याद नहीं थी, उनका प्रेम मुझे यहां खींच लाया, यह बात मन में किसी प्रकार भी टिक नहीं पा रही थी। तब ? शायद यह महज कौतूहल था, जो मुझे यहां खींच लाया था।

जब होश सम्भाला, अपनी इस मासी के रूप-गुण का बहुत बखान मैंने सुना। अपने जन्मदिन पर उपहार पाकर मेरे मन में यह धारणा बहुत दृढ़ हो गई थी कि वे मुझे बहुत प्यार करती हैं। मां भी बराबर यह कहा करती थी कि नैना ने दर्शना का मन मोह रखा है। जब मैं छः वर्ष की हुई, तो मासी का विवाह हुआ। पर मां बताती है कि मैं ऐसी बीमार पड़ी कि कोई भी उनके विवाह में सम्मिलित नहीं हो सका। उसके बाद मासी के विषय में बातें तो मैं बहुत सुनती, पर न मां मुझे कभी वहां भेजती, न मासी को ही कभी बुलाती। जब बात समझने की अकल आई तो जाना, मासाजी को ऐसा रोग है कि मां मुझे वहां भेज

ही नहीं सकती, और मासी, मासाजी को बीमारी की हालत में छोड़कर आ नहीं सकतीं। और धीरे-धीरे यह रोग भी जैसे जीवन के दैनिक कार्यक्रम की तरह बन गया कि हमने मासी का दुर्भाग्य समझकर उस-पर सोचना भी छोड़ दिया।

आज से करीब सात साल पहले का वह दिन मुझे अच्छी तरह याद है, जब मासाजी का एक पत्र पाकर घर में एक अजीब-सी दहशत छा गई थी। मां बहुत रोई थी, पिताजी के समझाने पर उसने कहा था—'इससे तो दर्शना मर जाती, तो अच्छा था ! कुल को कलंक तो नहीं लगता।'

इसके बाद करीब पन्द्रह दिनों तक कभी मामाजी का पत्र आता तो कभी बड़ी मासी का, और कुछ पूछने पर घर में क्रोध-भरी फटकार के सिवाय कुछ नहीं मिलता। एक दिन गुस्से में आकर मां ने ड्रॉइंग-रूम से मासी की तस्वीर भी उठाकर फेंक दी और उसके बाद से मासी का नाम लेना भी वर्जित हो गया। मैं उस समय उस उम्र से गुज़र रही थी, जब छोटी से छोटी बात भी मन पर बड़ा रहस्य बनकर छा जाती है। पर किसी तरह भी नहीं जान पाई कि आखिर मासी ने ऐसा क्या अप-राध कर डाला कि एकाएक ही वे सबके लिए घृणा की पात्री बन गईं ? जानती भी कैसे ? मां तो मुझे उनके नाम से ही इस प्रकार बचा-बचाकर रखती, मानो उनकी छाया भी मुझपर पड़ गई, तो मेरे लोक-परलोक, दोनों ही भ्रष्ट हो जाएंगे ! मैं मां की इकलौती बिटिया जो थी।

इसके बाद जब मेरे जन्मदिन पर मासी का उपहार आया, तो मां ने साफ मना कर दिया कि उसके घर की रत्ती-भर चीज़ भी नहीं ली जाएगी। पर मैं अड़ गई, तो मां को झुकना ही पड़ा। जाने क्यों, मां के मुंह से अब तब 'छिनाल' शब्द सुनकर मेरे मन की ममता मासी के प्रति और भी बढ़ गई थी। कभी-कभी घण्टों उनकी उस तस्वीर को (जिसे मैंने अपने पास संभालकर रख लिया था) देखकर मैं यही सोचा करती

थी कि सामने बैठी यह सीधी-सादी, भोली-भाली युवती इस नाम के किसी कैसे बनी ?

अतीत के इन्हीं बनते-बिगड़ते चित्रों में खोए-खोए कितने. मैंने बिता दी, मैं स्वयं नहीं जानती। उसके बाद एकाएक ही जाने कैसे. आकर्षण मामी के प्रति जागा कि मैं उठी और दबे पांव उनके कमरे में चली गई। सोचा, यदि जग रही होंगी, तो उनसे बात करूंगी, कुछ इस तरह कि वह मुझे पहचान जाएं। मैं उन्हें यह बता देने को व्याकुल हो उठी कि मैं उन्हें बहुत प्यार करती हूं। सारी दुनिया चाहे उन्हें घृणा करे, पर अनजान रहकर भी मैं सदा से ही उन्हें बड़ा प्यार करती आई हूं। मैंने ढूंढ़कर जैसे-तैसे स्विच ऑन किया, पर जैसे ही रोशनी में उनका चेहरा देखा, मुझे लगा, बिजली मेरे शरीर में दौड़ गई हो ! उनकी फटी आंखें और खुला मुंह देखकर मेरी चीख भी जैसे घुटकर अन्दर ही रह गई। उल्टे पैरों दौड़कर कैसे मैंने बुढ़िया को जगाया, यह सब मैं स्वयं नहीं जानती। बुढ़िया के रोने के साथ मेरी संज्ञा लौटी, तो मैं भी रो पड़ी। वह दुःख का रोना था या भय का, सो मैं नहीं जानती। मृत्यु को इतने पास से देखने का मेरा पहला ही मौका था। कैसे दूसरा दिन हुआ और कुछ लोगों ने जुटकर मामी का क्रिया-कर्म किया, मुझे कुछ मालूम नहीं। हां, इतना याद है कि निकटतम सम्बन्धी होने के नाते मुझसे भी कुछ-कुछ करवाया गया था और मैं यन्त्रवत् किए चली जा रही थी। मामी का शव जब चला गया, तो मैं आतंकित-सी दूसरे कमरे में बैठी रही। कैसी विचित्र मौत थी ! अजीब-सा सन्नाटा घर में छाया हुआ था, और उससे भी अधिक शून्य थे मेरे दिल-दिमाग। बाहर के बरामदे में बैठी बुढ़िया धीरे-धीरे रो रही थी। जाने कैसी विरक्ति मेरे मन में छा गई कि कुछ भी जानने-पूछने की इच्छा नहीं रही। जो अब इस संसार में है ही नहीं, जो अपनी लज्जा और दूसरों की घृणा अपने में ही समेटकर सदा के लिए चली गई, उसके कर्मों का लेखा-जोखा

हा नहा सकता, अ
आ नहीं सक
कार्यक्रम
पर

त नहीं लगा।
ने की अनुमति मांगी, तो बुढ़िया ने पूछा कि
गा ? मैं भला क्या बताती ? मेरे सामने
हुए उसने कहा कि 'वे बस तुम्हींको याद
सामान की अधिकारिणी तुम्हीं हो।' मन का
उठा। और जाने क्या सोचकर मैंने गुच्छा
उठा लिया और उनके तीनों बक्से टटोल मारे। एक बक्से में किताबों, कॉपियों और कागजों के बीच दबी एक फाइल निकली। जाने क्यों, उसे देखते ही मुझे लगा कि इसे खोलते ही नीले-पीले गुलाबी सेण्ट में महकते वे पत्र निकल पड़ेंगे, जो उनके किसी प्रेमी ने उन्हें लिखे होंगे और जिनके कारण उन्हें इतनी लांछना सहनी पड़ी ! पर जब उसे खोला, तो उसमें किसी पत्रिका में से फाड़े हुए तीन पन्ने थे, एक संगीत का डिप्लोमा था और कुछ पन्ने किसी डायरी से फाड़े हुए लगते थे। उन पन्नों में कहीं दवाइयों के नुस्खे लिखे थे, कहीं धोबी के कपड़े, कहीं घर का हिसाब, तो कहीं मासी के अलग-अलग तारीखों के नोट थे। पत्रिका के फाड़े हुए पन्नों के अन्तिम पृष्ठ पर चारों ओर की मार्जिन में छोटे-छोटे अक्षरों में लिखे नोट थे। मैंने ध्यान से पढ़ा, एक जगह लिखा था :

"यहां तक यह मेरी ही कहानी है। मैं जानती थी कि तुम कहानीकार हो तो अवश्य ही किसी दिन मुझे अपनी कलम से हलाल करोगे, पर इसके बाद का सारा किस्सा गलत है, इसलिए मैं उसे फाड़े दे रही हूं। तुम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण देकर, मेरे कुकृत्य पर परदा डालकर सारी दुनिया को धोखा दे रहे हो, पर मैं अच्छी तरह जानती हूं कि तुम झूठ बोल रहे हो। अपनी कलम के करिश्मे दिखाकर वाहवाही लूटने की लालसा ने ही तुमसे यह सब लिखवाया है। तुम सोचते हो, तुम्हारी इस दया से मैं कृतकृत्य हो जाऊंगी। नहीं, मुझे किसीकी दया नहीं चाहिए..."

आह, तो यह मासी के जीवन की कहानी है! हरीश नाम के किसी लेखक की थी वह कहानी। मैं उसे एक सपाटे में पढ़ गई।

हरीश :

अविवाहित होना इतना बड़ा अभिशाप है, यह मकान खोजने के सिलसिले में ही महसूस हुआ। आखिर तीन कमरों के एक फ्लैट में एक कमरा मिला। वह पूरा फ्लैट एक दम्पति के पास था। अब आर्थिक संकट में फंसकर उन्होंने एक कमरा किराये पर उठाया था। तीन-चार दिन में मैं वहां जम गया। भाभी (मकान-मालकिन को मैं भाभी ही कहता था) बड़े अच्छे स्वभाव की महिला थीं। वे मेरा काफी ख्याल रखती थीं। बच्चा उनके कोई था नहीं और पति बीमार थे, एक कमरे में पड़े रहते थे। क्या रोग था, सो तो मैं बहुत दिनों तक नहीं जान पाया।

भाभी का सारा समय अपने बीमार पति की सेवा करने में बीतता था। बड़ी लगन, बड़ी तत्परता से वे उनकी देख-भाल करती थीं। मुझे कभी खाली बैठा देखतीं, तो इजाजत लेकर मेरे पास आ बैठतीं। वे जो बातें करतीं, उनमें अधिक उनके पति से ही सम्बन्धित होतीं। क्या इलाज हो रहा है, कैसे सब डाक्टर फेल होते जा रहे हैं, आदि-आदि। उस समय उनके चेहरे पर दुःख की घनी छाया उतर आती थी और आंखें अनायास ही भर-भर आती थीं। फिर एकाएक ही वे अपने को संभालकर कहतीं—दो मिनट को आई तो अपना दुखड़ा ही ले बैठी, कैसी पागल हूं!—और बिना बात ही धीमी-सी हंसी उनके होंठों पर फैल जाती।

एक दिन इसी तरह बातें करते-करते मैंने देखा कि वे बार-बार मेरे कुरते के बटनों की ओर देख रही हैं। मैंने अपने सीने की ओर देखा, बटन खुले हुए थे और मेरे सीने के घने काले बाल दिखाई पड़ रहे थे। एक महिला के सामने यों सीना उघारकर बैठने की लज्जा को ढकते हुए

मैंने कहा, "ये धोबी बटनों का कचूमर निकाल देते हैं।"

"मुझे दे दिया होता, मैं लगा देती ! मुझे इतना पराया क्यों समझते हैं आप ? देखिए, मैं तो बिना किसी संकोच के आपसे बाहर के अनेक काम करवा लिया करती हूं। सच, आपके आ जाने से बड़ी राहत मिली। मन ऊबता है, तो घड़ी दो घड़ी बैठकर हंस-बोल लेती हूं, मन बहल जाता है।"

उसके बाद से मैंने देखा कि जब कभी मेरी अनुपस्थिति में भाभी धोबी से कपड़े लेतीं, बटन हमेशा नदारद। एक बार तो मुझे ऐसा भ्रम हुआ, मानो किसीने बड़ी सफाई से बटन काट दिए हैं। पर फिर अपनी इस कल्पना पर आप ही हंसी आई, बटन कौन काटेगा भला ? लापरवाह आदमी, मैं बटन लगवाना भूल जाता और बाहर जाते समय जाकेट चढ़ा लेता। पर भाभी आतीं, तो बहुत ढकने पर भी मेरे सीने के बाल इधर-उधर से झांका करते और वे उन्हें घूर-घूरकर मुझे संकुचित करती रहतीं।

उस दिन तो मेरी लज्जा का कोई ठिकाना ही नहीं रहा, जिस दिन उन्होंने अपने नौकर को इसी बात के लिए बुरी तरह डांटा कि वह क्यों धोती को मोड़कर लंगोट की तरह कर लेता है, और कमीज़ के सारे बटन खोलकर, बांहें उलटकर नंगी बांहें दिखाता फिरता है ? मैंने उस दिन ही भाभी को क्रोध करते देखा था। वे गुस्से से लाल होकर कांप रही थीं और चिल्लाए जा रही थीं, "औरतोंवाले घर में काम किया है कभी या नहीं ? बदतमीज़ कहीं के ! रहना है तो तमीज़ से रहो !"

मुझे उनका यह अत्यधिक क्रोध समझ में नहीं आ रहा था। साथ ही यह भी लग रहा था कि वे नौकर की आड़ में मुझको ही तो नहीं डांट रही हैं। उसी दिन मैंने दर्ज़ी के पास सारे कुर्ते ले जाकर सीप की जगह कपड़े के बटन लगवा लिए।

यों भाभी मेरा बहुत खयाल रखती थीं, पर उन्हें मेरे मित्रों का

बहुत माना-जाना पसन्द नहीं था। एक-दो बार तो मैंने यह भी देखा कि मुझे बिना सूचना दिए ही उन्होंने मेरी एक परिचिता को यह कहकर लौटा दिया कि मैं घर पर नहीं हूं। मुझे बुरा लगा। फिर सोचा, शायद यहां लोगों के आने से इनके पति को परेशानी होती होगी। दूसरे दिन जब मेरी एक मित्र आई, तो मैंने अपने कमरे का दरवाजा बन्द कर लिया, ताकि बाहर किसी प्रकार की आवाज़ न जाए। करीब घंटे-भर बाद वापस जाने के लिए जैसे ही मैंने दरवाज़ा खोला, देखा, भाभी दरवाज़े पर ही खड़ी थीं, मेरी मित्र की ओर देखती हुई वे ज़ोर-ज़ोर से रोकर चिल्लाने लगीं, "तुम लोगों को इतनी भी लज्जा नहीं कि बगल में एक बीमार आदमी है, तो ज़रा हंसी-ठिठोली कम करें? दरवाज़ा बन्द करने से ही क्या हो जाता है..."

उस लड़की से क्षमा-याचना करता हुआ मैं उसे नीचे ले गया। लौटा, तो सोचा, भाभी से साफ़-साफ़ बात कर लूंगा। भाभी का इस प्रकार दरवाज़े पर खड़े होना भी मुझे अच्छा नहीं लगा। लेकिन जैसे ही मैं लौटा, भाभी ने मुझे देखते ही ज़ोर से अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द कर लिया। यह भी एक नई बात थी। यहां आने के बाद मैंने कभी उन्हें दरवाज़ा बन्द करके रहते नहीं देखा था, यहां तक कि रात को भी वे दरवाज़ा खुला ही रखती थीं।

शाम को मैं बाहर चला गया। मन का आक्रोश घुला नहीं था।

रात को देर से लौटा, तो देखा, भाभी का कमरा वैसे ही बन्द था। मैं उन्हीं के बारे में सोचता-सोचता जाने कब सो गया।

इसके बाद दो दिन तक हमारी कोई बात नहीं हुई। उनके कमरे का दरवाज़ा भी बन्द ही रहता। जब कभी बाहर निकलतीं, देखता कि दो दिन में ही चेहरा बड़ा उतर गया है। [illegible] लगता था, जैसे बराबर रोती ही रही हैं। तीसरे दिन रात को [illegible] अपने कमरे में बैठा एक कहानी लिख रहा था कि [illegible]

भीतर आ घुसीं। उनके लम्बे-लम्बे बाल बिखरे हुए थे और आंखें सुर्ख थीं। उनकी यह करुण और दयनीय स्थिति देखकर मन जाने कैसा हो गया। मैं कुछ कहूं, उसके पहले ही वे हाथों में मुंह छिपा, फूट-फूटकर रो पड़ीं, "अब क्या करूं? आज डाक्टरों ने साफ-साफ कह दिया है कि इन्हें पहाड़ पर नहीं ले जाया गया, तो बचना मुश्किल है।"

"आज तो मैंने उन्हें टहलते हुए देखा था और मुझे लगता था कि उनकी तबीअत सुधर रही है। किस डाक्टर ने कहा? सब गलत है, आप हिम्मत से काम लीजिए।"

"नहीं, नहीं, ये सब झूठी तसल्लियां हैं! आज तो एकाएक ही जैसे मेरा हौसला टूट गया, हिम्मत पस्त हो गई। जिस दिन ब्याहकर आई, उसी दिन से इनकी सेवा कर रही हूं, पर इन्हें अच्छा नहीं कर पाई, और अब तो कोई उम्मीद भी नहीं है।" और वे फिर फूट-फूटकर रोने लगीं। रात ग्यारह बजे तक उन्हें तरह-तरह से आश्वासन देता रहा, स्नेहपूर्ण बातों से उनका मन भरमाता रहा। एक बार तो आवेग में आकर उन्होंने अपना सिर मेरे सीने पर टिका दिया। मैंने धीरे से हटाकर उन्हें हौसला बधाया। थोड़ी देर बाद वे उठकर गई, तो ऐसी निराशा उनके चेहरे पर छाई थी, मानो जुआरी अपना सब कुछ हार गया हो। उस दिन सच ही वे बड़ी उद्विग्न थीं, बेहद परेशान। मुझे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूं? लेटा तो नींद नहीं आई। बार-बार भाभी का बेबस-मायूस चेहरा आंखों के आगे उभर आता।

आखिर जब कमरे में दम घुटने लगा, तो मैं चुपचाप ऊपर छत पर चला गया, पर दरवाजे पर पहुंचकर ही ठिठक गया। देखा, छत की मुंडेर पर दोनों कुहनियां टिकाए, भाभी शून्यभाव से सामने देख रही थीं। मन बुरी तरह अकुला उठा। एक बार उचित-अनुचित का ज्ञान भूलकर बड़ी जोर से इच्छा हुई कि इस रोती, बेबस नारी को जाकर अपनी बांहों में भर लूं, अपने लिए नहीं, उसके सन्तोष के लिए,

उसकी सान्त्वना के लिए; लेकिन फिर खयाल आया, इस आग को जलाने से लाभ ? मैं चुपचाप नीचे उतर आया, और उन्हींकी बात सोचते-सोचते जाने कब सो गया।

रात शायद आधी से ज्यादा बीत चुकी थी कि अचानक किसीके स्पर्श से चौंक उठा। आंखें खोलीं तो देखा, भाभी मुझपर झुकी हुई थीं। पहली बात जो दिमाग में आई, वह यही कि इनके पति चल बसे। फिर एक अज्ञात भय से कांप उठा। पर भाभी की आंखों में जाने क्या था कि···

-कहानी यहीं से फाड़ दी गई थी और चारों तरफ नोट लिखे थे।

दर्शना :

७-३-४७

इनकी हालत दिन पर दिन गिरती जा रही है। इनके पिचके हुए गाल, निस्तेज आंखें, कुम्हलाया पीला चेहरा और धसा सीना देखती हूं, तो लगता है, खूब रोऊं। इन्हें कैसे अच्छा करूं कि ये हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ हो जाएं···?

२०-८-४७

मेरी सारी कोशिशें बेकार जा रही हैं। जब कभी सोचती हूं कि अब क्या होगा, तो आंखों के आगे ऐसा अभेद्य अन्धकार छा जाता है, जिसके परे कुछ दिखाई नहीं देता। मन बड़ा टूटा-सा रहता है। सब ओर निराशा, उदासी ! न दिन को चैन, न रात को नींद ! विचित्र-विचित्र सपने आते हैं। कल के सपने का ही क्या अर्थ हुआ भला ? देखा, छोटी-छोटी पहाड़ियों की चोटियों से जल के झरने झर रहे हैं, पर फिर भी आसपास कहीं हरियाली नहीं, रेगिस्तान ही रेगिस्तान है। कोई उस जल को पीनेवाला नहीं, कोई फल-फूल उस जल से खिलनेवाला नहीं। विचित्र संयोग था, जल के किनारे निर्जन रेगिस्तान ! जल की

इससे बढ़कर और क्या निरर्थकता हो सकती है? पर यह भी कोई सपना हुआ भला? ...

१३–५–४८

आज मेडिकल कालेज गई थी। मैंने वहां हड्डियों का ढांचा देखा। देखकर ही जाने कैसा विचित्र भय मेरे मन में समा गया। एक दहशत-सी छा गई। मुझे लगा, उस कंकाल ने अपने दोनों हाथ फैलाना शुरू किया और मुझे दबोच लिया! उसकी पकड़ कसती जा रही थी और मुझे लग रहा था, जैसे कोई मेरे सारे शरीर का रक्त सोखे जा रहा है। उसके बाद शायद मुझे गश आ गया था, क्योंकि मुझे कुछ मालूम नहीं कि उसके बाद क्या हुआ? ...डाक्टर कहते हैं कि मैं इतना परिश्रम न करूं, नहीं तो मेरी भी हालत खराब हो जाएगी। सच ही तो है, मैं बीमार हो गई, तो इन्हें कौन देखेगा? पर इस भय से कैसे मुक्ति पाऊं! घर के जिस कोने में भी जाती हूं, वह कंकाल मुझे दबोचने को चला आता है, जैसे मुझे वह मारकर ही छोड़ेगा! ...

६–४–५०

इस नौकर को बदलना ही होगा। कितनी बार इससे कहा कि ठीक से कपड़े पहनकर रहा करो, यह सुनता ही नहीं! सोचती हूं, नौकरानी रख लूं, पर बाहर के काम की वजह से इसे ही रखना पड़ता है। यों हरीशजी के आने से कुछ सुविधा जरूर हो गई है; पर उनका क्या, लेखक आदमी हैं। फिर छाती के बटन तो उनके भी टूटे ही रहते हैं। जाने क्यों, यह निर्लज्जता मुझसे बर्दाश्त नहीं होती। किसीकी उघड़ी छाती देखकर सारे बदन में जैसे कांटे चुभने लगते हैं।

११–१०–५०

सामनेवाली मेम का यह काला-झबरा कुत्ता कितना प्यारा है! इसके काले, बड़े-बड़े बाल कैसे सुहावने हैं! जी चाहता है, अपना मुंह उसके काले बालों में छिपा लूं। शाम को जब वह घूमकर आता है, तो

कितने प्यार से मेम का हाथ चाटता है, दोनों टाँगें उसके कंधे पर रखकर अपना सिर उसकी छाती से लगा देता है। मेम उसके मुलायम केशों में उंगलियाँ डालकर सहलाया करती है। ये कुत्ते भी कितने स्नेही और ममतामय होते हैं। कहते हैं, यह मेम इस कुत्ते को अपने बच्चों से भी ज्यादा प्यार करती है। मन करता है, मैं भी एक कुत्ता पाल लूँ, काले-भबरे बालोंवाला। उसके बालों में उंगलियाँ डालकर सहलाऊँ, उसे प्यार करूँ। पर कौन देख-रेख करेगा उसकी? अभी तो इनके कामों से ही फुरसत नहीं मिलती।

कितना मन करता है कि मैना को अपने पास बुलाऊँ! पर कैसे लिखूँ? दीदी भेजेंगी नहीं। भेजें भी कैसे? इनको टी० बी० है, और उनकी वह अकेली लड़की है। सब कुछ जानती हूँ, उसे बुलाना ठीक नहीं है, फिर भी बड़ी इच्छा होती है कि वह मेरे पास हो, मैं उसे सुलाऊँ, प्यार करूँ, उसके साथ खेलूँ, उसे अपने साथ सुलाऊँ। कितनी प्यारी बच्ची है!

८-५-५१

आज ऊपर गई तो विचित्र ही दृश्य देखा। सामनेवाली मेम के कुत्ते को जाने क्या रोग हो गया है कि उसके सारे बाल झड़ गए और चमड़ी खाज से भर गई है। सुनते हैं, मेम ने बहुत इलाज करवाया, पर अब डाक्टरों ने जवाब दे दिया है। मेम एक जमाने में उसे कितना प्यार किया करती थी! पर अब उसे अन्दर भी नहीं आने देती। आज मैंने सुना, रोते-रोते उसने अपने नौकर को हुक्म दिया कि उसे बाहर ले जाकर शूट कर दो। कुत्ता निरीह भाव से खड़ा था, मानो वह भी समझता हो कि इस निरर्थक जीवन को ढोने से कोई लाभ नहीं। वह आगे भी नहीं बढ़ा, इस गन्दी बीमारी को लेकर मेम तक जाने का उसे अधिकार नहीं है, यह बात भी जैसे वह समझता है। ओह! कुत्ते भी कितने समझदार होते हैं!

पर जो बात कुत्ता समझ रहा है, वह जाने क्यों मेरे गले नहीं उतर रही है। जिस कुत्ते को मेम इतना प्यार करती थी, उसे अब शूट करवा दिया जाएगा। क्या यह ठीक है? कभी लगता है ठीक है, कभी लगता है गलत है।

१३–५–५१

चार दिन से कुत्ते की इस घटना ने मुझे पागल बना रखा है। लगता है, मैं सच ही पागल न हो जाऊं।

हरीशजी के पास यह लड़की आती है, तो जाने क्यों मुझे ज़रा नहीं सुहाती। खैर, मुझे क्या, कोई भी आए-जाए! मैं तो भगवान से यही प्रार्थना करती हूं कि मुझे सद्‌बुद्धि दें बल दें! पर अब तो इतनी थक गई हूं कि प्रार्थना करने की शक्ति भी जाती रही!

१४–५–५१

आज इन्होंने मुझे मारा। शादी के बाद आज पहली बार मैंने ...न, कि इनके शरीर में अब भी इतना ज़ोर है! इनकी बीमार लातों ने भी मेरी कमर तोड़ दी, तो जब ये टांगें पुष्ट रही होंगी, कितना ज़ोर रहा होगा इनमें! हज़ारों बार ही मैंने गलतियां कीं, कितना अच्छा होता उस समय भी ये मुझे मारते, कम से कम फिर इतनी बड़ी गलती तो नहीं करती। मुझे मार खाने का ज़रा भी गम नहीं। काश, इन्हों[ने] मारा होता!

हरीशजी के लिए बहुत दुःख है; मेरे पीछे उन्हें भी व्यर्थ ही अप[मा]नित होना पड़ा।

१५–५–५१

आज इन्होंने घर से निकल जाने को भी कह दिया। आज जगह इन्होंने पत्र भी लिखे हैं: मां, भैया और दीदी को। जाने क्या लिखा होगा। जो मौखिक सहानुभूति आज तक मिलती आ[ई] वह भी बन्द हो जाएगी। शायद सब मुझसे नफरत ही करने लगें

भी जाने क्यों, मुझे न अपने किए का दुःख है, न इस दण्ड का! इस सबके बाद मैं स्वयं ही घर छोड़कर निकल जाती। दो दिन आगे या पीछे विधाता जिस दण्ड का विधान करनेवाला था, वह आज ही हो गया! पर इनका क्या होगा? कोई सम्बन्धी यहाँ झाँकना भी पसन्द नहीं करता! पर जो मनुष्य बिना क्षमता के केवल चाहना ही चाहना करता है, उसका अन्त इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

२०-७-५१

आज उनकी मृत्यु का समाचार सुना। समझ नहीं पा रही हूँ, क्या करूँ? मेरी तो सारी भावनाएँ ही जैसे मर गई हैं। मैं ही जाने क्यों ज़िन्दा हूँ?

१३-८-५१

भाग्य से मुझे संगीत के पण्डितजी अचानक मिल गए। एक ज़माने में मुझे गाने-बजाने का कितना शौक था, पर सब छूट गया था। उस समय जो मात्र शौक था, उसे अब जीविका का साधन बनाना पड़ेगा।...यहीं एक स्कूल में नौकरी मिल गई है। लगता है, जीवन की एक राह मिल गई। सब ओर से बेसहारा होकर भी अब जी लूँगी।

२३-११-५१

आज नैना का जन्मदिन है। डरते-डरते मैंने उपहार भेजा था। कौन जाने, रखें, न रखें; पर उन्होंने रख लिया। तो क्या समझूँ कि दीदी आज भी मुझे प्यार करती हैं? यह भावना ही कितनी सुखदायी है कि कोई हमें भी प्यार करता है!

२-६-५२

हरीश ने मुझपर कहानी लिखी। पर लिखकर इतना मनोवैज्ञानिक बनाने की क्या आवश्यकता थी? यों तो [illegible] मैं उसे दोष नहीं देती। मूर्ख कहीं का!

—'तीन निगा

पर जो वात कुत्ता समझ रहा है, वह जाने क्यों मेरे गले नहीं उतर पा रही है। जिस कुत्ते को मेम इतना प्यार करती थी, उसे अब शूट करवा दिया जाएगा। क्या यह ठीक है ? कभी लगता है ठीक है; कभी लगता है गलत है।

१३–५–५१

चार दिन से कुत्ते की इस घटना ने मुझे पागल बना रखा है। लगता है, मैं सच ही पागल न हो जाऊं।

हरीशजी के पास यह लड़की आती है, तो जाने क्यों मुझे ज़रा नहीं सुहाती। खैर, मुझे क्या, कोई भी आए-जाए ! मैं तो भगवान से यही प्रार्थना करती हूं कि मुझे सद्बुद्धि दें बल दें ! पर अब तो इतनी थक गई हूं कि प्रार्थना करने की शक्ति भी जाती रही !

१४–५–५१

आज इन्होंने मुझे मारा। शादी के बाद आज पहली बार मैंने जाना कि इनके शरीर में अब भी इतना ज़ोर है ! इनकी बीमार लातों ने भी मेरी कमर तोड़ दी, तो जब ये टांगें पुष्ट रही होंगी, कितना ज़ोर रहा होगा इनमें ! हज़ारों बार ही मैंने गलतियां कीं, कितना अच्छा होता उस समय भी ये मुझे मारते, कम से कम फिर इतनी बड़ी गलती तो नहीं करती। मुझे मार खाने का ज़रा भी गम नहीं। काश, इन्होंने मारा होता !

हरीशजी के लिए बहुत दुःख है; मेरे पीछे उन्हें भी व्यर्थ ही अपमानित होना पड़ा।

१५–५–५१

आज इन्होंने घर से निकल जाने को भी कह दिया। आज सब जगह इन्होंने पत्र भी लिखे हैं : मां, भैया और दीदी को। जाने क्या-क्या लिखा होगा। जो मौखिक सहानुभूति आज तक मिलती आई थी, वह भी बन्द हो जाएगी। शायद सब मुझसे नफरत ही करने लगें। फिर

मानो वे दूसरे के घर में नहीं अपने ही घर में काम कर रही हों।

आजकल सोमा बुआ के पति आए हुए हैं, और अभी-अभी कुछ कहा-सुनी होकर चुकी है। बुआ आंगन में बैठी धूप खा रही हैं, पास रखी कटोरी से तेल लेकर हाथों में मल रही हैं, और बड़बड़ा रही हैं। इस एक महीने में अन्य अवयवों के शिथिल हो जाने के कारण उनकी जीभ ही सबसे अधिक सजीव और सक्रिय हो उठती है। तभी हाथ में एक फटी साड़ी और पापड़ लेकर ऊपर से राधा भाभी उतरी।

"क्या हो गया बुआ, क्यों बड़बड़ा रही हो? फिर संन्यासीजी महाराज ने कुछ कह दिया क्या?"

"अरे मैं कहीं चली जाऊं सो ही इन्हें नहीं सुहाता। कल चौकवाले किशोरीलाल के बेटे का मुण्डन था, सारी बिरादरी का न्यौता था। मैं तो जानती थी कि ये पैसे का गरूर है कि मुण्डन पर भी सारी बिरादरी को न्यौता है, पर काम उन नई-नवेली बहुओं से सम्भलेगा नहीं, सो जल्दी ही चली गई। हुआ भी वही।" और सरककर बुआ ने राधा के हाथ से पापड़ लेकर सुखाने शुरू कर दिए। "एक काम गत से नहीं हो रहा था। अब घर में कोई बड़ा-बूढ़ा हो तो बतावे, या कभी किया हो तो जानें। गीतवाली औरतें मुण्डन पर बन्ना-बन्नी गा रही थीं, मेरा तो हंसते-हंसते पेट फूल गया।" और उसकी याद से ही कुछ देर पहले का दुःख और आक्रोश धुल गया। अपने सहज स्वाभाविक रूप में वे कहने लगीं, "भट्टी पर देखो तो अजब तमाशा—समोसे कच्चे ही उतार दिए और इतने बना दिए कि दो बार खिला दो, और गुलाबजामुन इतने कम कि एक पंगत में भी पूरे न पड़ें। उसी समय मैदा सानकर नये गुलाबजामुन बनाए। दोनों बहुएं और किशोरीलाल तो बेचारे इतना जस मान रहे थे कि क्या बताऊं? कहने लगे, 'अम्मा! तुम न होतीं तो आज भद्द उड़ जाती। अम्मा! तुमने लाज रख ली!' मैंने तो कह दिया कि अरे अपने ही काम नहीं आवेंगे तो कोई बाहर से तो आवेगा नहीं। यह तो

अकेली

सोमा बुआ बुढ़िया हैं।

सोमा बुआ परित्यक्ता हैं।

सोमा बुआ अकेली हैं।

सोमा बुआ का जवान बेटा क्या जाता रहा, उनकी अपनी जवानी चली गई। पति को पुत्र-वियोग का ऐसा सदमा लगा कि वे पत्नी, घर-बार तजकर तीरथवासी हुए और परिवार में कोई ऐसा सदस्य था नहीं जो उनके एकाकीपन को दूर करता। पिछले बीस वर्षों से उनके जीवन की इस एकरसता में किसी प्रकार का कोई व्यवधान उपस्थित नहीं हुआ, कोई परिवर्तन नहीं आया। यों हर साल एक महीने के लिए उनके पति उनके पास आकर रहते थे, पर कभी उन्होंने पति की प्रतीक्षा नहीं की, उनकी राह में आंखें नहीं बिछाई। जब तक पति रहते, उनका मन और भी मुरझाया हुआ रहता, क्योंकि पति के स्नेहहीन व्यवहार का अंकुश उनके रोज़मर्रा के जीवन की अबाध गति से बहती स्वच्छन्द धारा को कुण्ठित कर देता। उस समय उनका घूमना-फिरना, मिलना-जुलना बन्द हो जाता, और संन्यासीजी महाराज से यह भी नहीं होता कि दो मीठे बोल बोलकर सोमा बुआ को एक ऐसा सम्बल ही पकड़ा दें, जिसका आसरा लेकर वे उनके वियोग के ग्यारह महीने काट दें। इस स्थिति में बुआ को अपनी जिन्दगी पास-पड़ोसवालों के भरोसे ही काटनी पड़ती थी। किसीके घर मुण्डन हो, छठी हो, जनेऊ हो, शादी हो या गमी; बुआ पहुंच जातीं और फिर छाती फाड़कर काम करतीं,

बुलाए तुम क्यों गई।"

"बिचारे इतने हंगामे में बुलाना भूल गए तो मैं भी मान करके बैठ जाती? फिर घरवालों का कैसा बुलाना? मैं तो अपनेपन की बात जानती हूं। कोई प्रेम नहीं रखे तो दस बुलावे पर नहीं जाऊं और प्रेम रखे तो बिना बुलाए भी सिर के बल जाऊं। मेरा अपना रहनू होता और उनके घर काम होता तो क्या मैं बुलावे के भरोसे बैठी रहती? मेरे लिए जैसा हरनू वैसा किशोरीलाल! आज हरनू नहीं है, इसीसे दूसरों को देख-देखकर मन भरमाती रहती हूं।" और वे हिचकियां लेने लगीं।

मुंह पापड़ों को बटोरते-बटोरते स्वर को भरसक कोमल बनाकर राधा ने कहा, "तुम भी बुआ मान को कहां से कहां ले गईं! लो अब चुप होओ, पापड़ चुनकर लाती हूं, लाकर बताना कैसा है?" और वह साड़ी समेटकर ऊपर चढ़ गई।

कोई सप्ताह-भर बाद बुआ बड़े प्रसन्न मन से आईं और संन्यासी-जी से बोलीं, "सुनते हो, देवरजी के सुसरालवालों की किसी लड़की का सम्बन्ध नागौरवाली के यहां हुआ है। वे सब लोग यहीं आकर ब्याह कर रहे हैं। देवरजी के बाद तो उन लोगों से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा, फिर भी हैं तो समधी ही। वे तो तुमको भी बुलाए बिना नहीं मानेंगे। समधी को आखिर कैसे छोड़ सकते हैं?" और बुआ पुलकित होकर हंस पड़ीं। संन्यासीजी की मौन उपेक्षा से उनके मन को ठेस तो पहुंची, फिर भी वे प्रसन्न थीं। इधर-उधर जाकर वे इस विवाह की प्रगति की खबरें लातीं! आखिर एक दिन वे यह भी सुन आईं कि उनके समधी यहां आ गए। जोर-शोर से तैयारियां हो रही हैं। सारी बिरादरी की दावत दी जाएगी—खूब रौनक होनेवाली है। दोनों ही पैसेवाले ठहरे।

"क्या जाने हमारे घर तो बुलावा आएगा या नहीं? देवरजी को

आजकल इनका रोटी-पानी का काम रहता है, नहीं तो मैं सवेरे से ही चली जाती !"

"तो संन्यासी महाराज क्यों बिगड़ पड़े ? उन्हें तुम्हारा आना-जाना अच्छा नहीं लगता बुआ !"

"यों तो मैं कहीं आऊं-जाऊं सो ही इन्हें नहीं सुहाता, और फिर कल किशोरी के यहां से बुलावा नहीं आया। अरे; मैं तो कहूं कि घरवालों का कैसा बुलावा ? वे लोग तो मुझे अपनी मां से कम नहीं समझते, नहीं तो कौन भला यों भट्ठी और भण्डारघर सौंप दे ? पर उन्हें अब कौन समझावे। कहने लगे, तू ज़बरदस्ती दूसरों के घर में टांग अड़ाती फिरती है।" और एकाएक उन्हें उस क्रोध-भरी वाणी और कटु वचनों का स्मरण हो आया, जिनकी बौछार कुछ देर पहले ही उनपर होकर चुकी थी। याद आते ही फिर उनके आंसू बह चले।

"अरे, रोती क्यों हो बुआ ! कहना-सुनना तो चलता ही रहता है। संन्यासीजी महाराज एक महीने को तो आकर रहते हैं, सुन लिया करो, और क्या ?"

"सुनने को तो सुनती ही हूं, पर मन तो दुखता ही है कि एक महीने को आते हैं तो भी कभी मीठे बोल नहीं बोलते। मेरा आना-जाना इन्हें सुहाता नहीं, सो तू ही बता राधा, ये तो साल में ग्यारह महीने हरिद्वार रहते हैं। इन्हें तो नाते-रिश्तेवालों से कुछ लेना-देना नहीं, पर मुझे तो सबसे निभाना पड़ता है। मैं भी सबसे तोड़ताड़कर बैठ जाऊं तो कैसे चले ? मैं तो इनसे कहती हूं कि जब पल्ला पकड़ा है तो अन्त समय में भी साथ रखो, सो तो इनसे होता नहीं। सारा धरम-करम ये ही लूटेंगे, सारा जस ये ही बटोरेंगे और मैं अकेली पड़ी-पड़ी यहां इनके नाम को रोया करूं। उसपर से कहीं आऊं-जाऊं वह भी इनसे बर्दाश्त नहीं होता···" और बुआ फूट-फूटकर रो पड़ीं। राधा ने आश्वासन देते हुए कहा, "रोओ नहीं बुआ ! अरे, वे तो इसलिए नाराज़ हुए कि बिना

बुलाए तुम चली गईं।"

"बेचारे इतने हंगामे में बुलाना भूल गए तो मैं भी मान करके बैठ जाती? फिर घरवालों का कैसा बुलाना? मैं तो अपनेपन की बात जानती हूं। कोई प्रेम नहीं रखे तो दस बुलावे पर नहीं जाऊं और प्रेम रखे तो बिना बुलाए भी सिर के बल जाऊं। मेरा अपना रहसू होता और उसके घर काम होता तो क्या मैं बुलावे के भरोसे बैठी रहती? मेरे लिए जैसा हरसू वैसा किशोरीलाल! आज हरसू नहीं है, इसीसे दूसरों को देख-देखकर मन भरमाती रहती हूं।" और वे हिचकियां लेने लगीं।

सूखे पापड़ों को बटोरते-बटोरते स्वर को भरसक कोमल बनाकर राधा ने कहा, "तुम भी बुआ बात को कहां से कहां ले गईं! लो अब चुप होओ, पापड़ भूनकर लाती हूं, खाकर बताना कैसा है?" और वह साड़ी समेटकर ऊपर चढ़ गई।

कोई सप्ताह-भर बाद बुआ बड़े प्रसन्न मन से आईं और संन्यासीजी से बोलीं, "सुनते हो, देवरजी के सुसरालवालों की किसी लड़की का सम्बन्ध भागीरथजी के यहां हुआ है। वे सब लोग यहीं आकर ब्याह कर रहे हैं। देवरजी के बाद तो उन लोगों से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा, फिर भी हैं तो समधी ही। वे तो तुमको भी बुलाए बिना नहीं मानेंगे। समधी को आखिर कैसे छोड़ सकते हैं?" और बुआ पुलकित होकर हंस पड़ीं। संन्यासीजी की मौन उपेक्षा से उनके मन को ठेस तो पहुंची, फिर भी वे प्रसन्न थीं। इधर-उधर जाकर वे इस विवाह की प्रगति की खबरें लातीं! आखिर एक दिन वे यह भी सुन आईं कि उनके समधी यहां आ गए। ज़ोर-शोर से तैयारियां हो रही हैं। सारी बिरादरी को दावत दी जाएगी—खूब रौनक होनेवाली है। दोनों ही पैसेवाले ठहरे।

"क्या जाने हमारे घर तो बुलावा आएगा या नहीं? देवरजी को

गरे पच्चीस बरस हो गए, उसके बाद से तो कोई सम्बन्ध ही नहीं रखा। रखे भी कौन? यह काम तो मरदों का होता है, मैं तो मरदवाली होकर भी बेमरद की हूं।" और एक ठण्डी सांस उनके दिल से निकल गई।

"अरे वाह बुआ! तुम्हारा नाम कैसे नहीं हो सकता। तुम तो समधिन ठहरीं। सम्बन्ध में न रहे कोई रिश्ता थोड़े ही टूट जाता है!" दाल पीसती हुई घर की बड़ी बहू बोली।

"है, बुआ नाम है। मैं तो सारी लिस्ट देखकर आई हूं।" बिमला ननद बोली। बैठे ही बैठे एक कदम आगे सरककर बुआ ने बड़े उत्साह से पूछा, "तू अपनी आंखों से देखकर आई है नाम? नाम तो होना ही चाहिए। पर मैंने सोचा कि क्या जाने, आजकल की फैशन में पुराने सम्बन्धियों को बुलाना हो, न हो।" और बुआ बिना दो पल भी रुके वहां से चल पड़ीं। अपने घर जाकर सीधे राधा भाभी के कमरे में चढ़ीं, "क्यों री राधा, तू तो जानती है कि नई फैशन में लड़की की शादी में क्या दिया जावे है? समधियों का मामला ठहरा, सो भी पैसेवाले। खाली हाथ जाऊंगी तो अच्छा नहीं लगेगा। मैं तो पुराने जमाने की ठहरी, तू ही बता दे क्या दूं? अब कुछ बनने का समय तो रहा नहीं, दो दिन बाकी हैं, सो कुछ बना-बनाया ही खरीद लाना।"

"क्या देना चाहती हो अम्मां, जेवर, कपड़ा या शृंगारदान या कोई और चांदी की चीजें?"

"मैं तो कुछ भी नहीं समझूं री। जो कुछ पास है, तुझे लाकर दे देती हूं, जो तू ठीक समझे ले आना, बस भद्द नहीं उड़नी चाहिए! अच्छा, देखूं पहले कि रुपये कितने हैं।" और वे डगमगाते कदमों से नीचे आईं। दो-तीन कपड़ों की गठरियां हटाकर एक छोटा-सा बक्स निकाला। उसका ताला खोला। इधर-उधर करके एक छोटी-सी डिबिया निकाली। बड़े जतन से उसे खोला—उसमें सात रुपये, कुछ रेजगारी पड़ी थी, और एक अंगूठी। बुआ का अनुमान था कि रुपये कुछ ज्यादा होंगे, पर जब

पास ही रुपये निकले तो सोच में पड़ गई। रईस समधियों के घर में इतने-से रुपयों से तो बिन्दी भी नहीं लगेगी। उनकी नजर अंगूठी पर गई। यह उनके मृतपुत्र की एकमात्र निशानी उनके पास रह गई थी। बड़े-बड़े आर्थिक संकटों के समय भी वे उस अंगूठी का मोह नहीं छोड़ सकी थी। आज भी एक बार उसे उठाते समय उनका दिल धड़क गया, फिर भी उन्होंने पांच रुपये और वह अंगूठी आंचल से बांध ली। बक्स को बन्द किया और फिर ऊपर को चलीं। पर इस बार उनके मन का उत्साह कुछ ठण्डा पड़ गया था, और पैरों की गति शिथिल! राधा के पास जाकर बोली, "रुपये तो नहीं निकले बहू। आए भी कहां से, मेरे कौन कमानेवाला बैठा है? उस कोठरी का किराया आता है, उसमें तो दो समय की रोटी निकल जाती है जैसे-तैसे!" और वे रो पड़ीं। राधा ने कहा, "क्या करूं बुआ, आजकल मेरा भी हाथ तंग है, नहीं तो मैं ही दे देती। अरे, पर तुम देने के चक्कर में पड़ती ही क्यों हो? आजकल तो देने-लेने का रिवाज ही उठ गया।"

"नहीं रे राधा! समधियों का मामला ठहरा! पच्चीस बरस हो गए तो भी वे नहीं भूले, और मैं खाली हाथ जाऊं? नहीं, नहीं, इससे तो न जाऊं सो ही अच्छा!"

"तो जाओ ही मत। चलो छुट्टी हुई, इतने लोगों में किसे पता लगेगा कि आई या नहीं।" राधा ने सारी समस्या का सीधा-सा हल बताते हुए कहा।

"बड़ा बुरा मानेंगे। सारे शहर के लोग जावेंगे, और मैं समधिन होकर नहीं जाऊंगी तो यही समझेंगे कि देवरजी मरे तो सम्बन्ध भी तोड़ लिया। नहीं, नहीं, तू यह अंगूठी बेच ही दे।" और उन्होंने आंचल की गांठ खोलकर एक पुराने जमाने की अंगूठी राधा के हाथ पर रख दी। फिर बड़ी मिन्नत के स्वर में बोली, "तू तो बाजार जाती है राधा, इसे बेच देना और जो कुछ ठीक समझे खरीद लेना। बस, शोभा रह

जावे इतना ख्याल रखना।"

गली में बुआ ने चूड़ीवाले की आवाज़ सुनी तो एकाएक ही उनकी नज़र अपने हाथ की भद्दी-मटमैली चूड़ियों पर जाकर टिक गई। कल समधियों के यहां जाना है, ज़ेवर नहीं है तो कम से कम कांच की चूड़ी तो अच्छी पहन लें। पर एक अव्यक्त लाज ने उनके कदमों को रोक दिया, कोई देख लेगा तो। लेकिन दूसरे क्षण ही अपनी इस कमज़ोरी पर विजय पाती-सी वे पीछे के दरवाज़े पर पहुंच गई और एक रुपया कलदार खर्च करके लाल-हरी चूड़ियों के बन्द पहन लिए। पर सारे दिन हाथों को साड़ी के आंचल से ढके-ढके फिरीं।

शाम को राधा भाभी ने बुआ को चांदी की एक सिंदूरदानी, एक साड़ी और एक ब्लाउज़ का कपड़ा लाकर दे दिया। सब कुछ देख पाकर बुआ बड़ी प्रसन्न हुई, और यह सोच-सोचकर कि जब वे ये सब दे देंगी तो उनकी समधिन पुरानी बातों की दुहाई दे-देकर उनकी मिलनसारिता की कितनी प्रशंसा करेंगी, उनका मन पुलकित होने लगा। अंगूठी बेचने का गम भी जाता रहा। पासवाले बनिये के यहां से एक आने का पीला रंग लाकर रात में उन्होंने साड़ी रंगी। शादी में सफेद साड़ी पहनकर जाना क्या अच्छा लगेगा? रात में सोई तो मन कल की ओर दौड़ रहा था।

दूसरे दिन नौ बजते-बजते खाने का काम समाप्त कर डाला। अपनी रंगी हुई साड़ी देखी तो कुछ जंची नहीं। फिर ऊपर राधा के पास पहुंची, "क्यों राधा, तू तो रंगी साड़ी पहनती है तो बड़ी आब रहती है, चमक रहती है, इसमें तो चमक आई नहीं?"

"तुमने कलफ जो नहीं लगाया अम्मां, थोड़ा-सा मांड़ दे देतीं तो अच्छा रहता। अभी दे लो, ठीक हो जाएगी। बुलावा कब का है?"

"अरे नये फैशनवालों की मत पूछो, ऐन मौकों पर बुलावा आता है। पांच बजे का मुहूरत है, दिन में कभी भी आ जावेगा।"

राधा भाभी मन ही मन मुस्करा उठी।

बुआ ने साड़ी में माड़ लगाकर सुखा दिया। फिर एक नई थाली निकाली, अपनी जवानी के दिनों में बुना हुआ क्रोशिये का एक छोटा-सा मेजपोश निकाला। थाली में साड़ी, सिंदूरदानी, एक नारियल और थोड़े-से बताशे सजाए, फिर जाकर राधा को दिखाया। संन्यासी महाराज सवेरे से इस आयोजन को देख रहे थे, और उन्होंने कल से लेकर आज तक कोई पच्चीस बार चेतावनी दे दी थी कि यदि कोई बुलाने न आए तो चली मत जाना, नहीं तो ठीक नहीं होगा। हर बार बुआ ने बड़े ही विश्वास के साथ कहा, "मुझे क्या बावली ही समझ रखा है जो बिना बुलाए चली जाऊंगी? अरे वह पड़ोसवालों की नन्दा अपनी आंखों से बुलावे की लिस्ट में नाम देखकर आई है। और बुलाएंगे क्यों नहीं? शहरवालों को बुलाएंगे और समधियों को नहीं बुलाएंगे क्या?"

तीन बजे के करीब बुआ को अनमने भाव से छत पर इधर-उधर घूमते देख राधा भाभी ने आवाज़ लगाई, "गईं नहीं बुआ?"

एकाएक चौंकते हुए बुआ ने पूछा, "कितने बज गए राधा?... क्या कहा, तीन? सरदी में तो दिन का पता ही नहीं लगता है। बजे तीन हीं हैं और धूप सारी छत पर से ऐसे सिमट गई मानो शाम हो गई हो।" फिर एकाएक जैसे खयाल आया कि यह तो भाभी के प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ तो ज़रा ठण्डे स्वर में बोलीं, "मुहूरत तो पांच बजे का है, जाऊंगी तो चार तक जाऊंगी, अभी तो तीन ही बजे हैं।" बड़ी सावधानी से उन्होंने स्वर में लापरवाही का पुट दिया! बुआ छत पर से गली में नज़र फैलाए खड़ी थीं, उनके पीछे ही रस्सी पर धोती फैली हुई थी, जिसमें कलफ लगा था, और अबरक छिड़का हुआ था। अबरक के बिखरे हुए कण रह-रहकर धूप में चमक जाते थे, ठीक वैसे ही जैसे किसीको भी गली में घूमता देख बुआ का चेहरा चमक उठता था।

सात बजे के धुंधलके में राधा ने ऊपर से देखा तो छत की दीवार से

सटी, गली की ओर मुंह किए एक छाया-मूर्ति दिखाई दी। उसका मन भर आया। बिना कुछ पूछे इतना ही कहा, "बुआ ! सर्दी में खड़ी-खड़ी यहां क्या कर रही हो ? आज खाना नहीं बनेगा क्या, सात तो बज गए।"

जैसे एकाएक नींद में से जागते हुए बुआ ने पूछा, "क्या कहा, सात बज गए ?" फिर जैसे अपने से ही बोलते हुए पूछा, "पर सात कैसे बज सकते हैं, मुहूरत तो पांच बजे का था !" और फिर एकाएक ही सारी स्थिति को समझते हुए, स्वर को भरसक संयत बनाकर बोलीं, "अरे खाने का क्या है, अभी बना लूंगी। दो जनों का तो खाना है, क्या खान और क्या पकाना !"

फिर उन्होंने सूखी साड़ी को उतारा। नीचे जाकर अच्छी तरह उसकी तह की, धीरे-धीरे हाथों की चूड़ियां खोलीं, थाली में सजाया हुआ सारा सामान उठाया और सारी चीज़ें बड़े जतन से अपने एकमात्र सन्दूक में रख दीं।

और फिर बड़े ही बुझे हुए दिल से अंगीठी जलाने लगीं।

—'तीन निगाहों की एक तस्वीर' संग्रह